गीता

का

सच्चा स्वरूप

लेखक—

कविराज रघुनन्दनसिंह 'निर्मल'

गीता का सच्चा स्वरूप

लेखक तथा अनुवादक—

कविराज रघुनन्दनसिंह "निर्मल"

प्रकाशक—

वैदिक प्रचारक मण्डल

६४१०, देवनगर, नई दिल्ली।

प्रथमावृत्ति २०००

सम्वत् २०१८ वि०

मूल्य प्रचारार्थ १)

श्री नारायणदास गर्ग
ग्रन्थ सीरीज
प्रथम पुष्प

जो सज्जन चाहें इस गीता को अधिक संख्या में प्रकाशित कर प्रचार करें।

मुद्रक—
प्रताप प्रिंटिंग प्रेस, लाहौरी गेट,
दिल्ली-६

प्राक्कथन

प्राय: आर्य-सज्जन इस बात की शिकायत किया करते हैं कि गीता में कई स्थलों पर वेदविरुद्ध तथा परस्पर विरोधी बातें लिखी हुई हैं। उनका ऐसा कहना निराधार नहीं है क्योंकि गीता में स्थान-स्थान पर ऐसे श्लोक आते हैं जिन्हें वेदानुकूल नहीं कहा जा सकता और जिनका स्वयं गीता से विरोध है। ऐसी दशा में आर्य-जनता की यह मांग स्वाभाविक ही है कि इन प्रक्षिप्त, परस्पर विरोधी और वेदविरुद्ध श्लोकों को निकाल कर गीता का शुद्ध स्वरूप आर्य-जगत के सामने रखा जावे।

तिलक पार्क देहली में गीता की कथा करते समय मुझसे कई सज्जनों ने यह कार्य करने का अनुरोध किया और मैंने भी इसकी आवश्यकता का अनुभव करते हुये इसको सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसी के परिणाम-स्वरूप यह "गीता का सच्चा स्वरूप" नामक पुस्तक आर्य जनता की सेवा में भेंट की जा रही है। इस सम्बन्ध में यह बताना नितान्त आवश्यक है कि केवल उन्हीं श्लोकों को इस संग्रह में स्थान नहीं दिया गया जिन्हें सर्वथा वेदविरुद्ध समझा गया है और जिनका उचित समाधान तर्क वा युक्ति द्वारा सम्भव नहीं। महर्षि वेद-व्यास वेदों के पूर्ण पण्डित थे—उनकी लेखनी से किसी भी वेद-विरुद्ध बात का लिखा जाना कदापि सम्भव नहीं अत: जिन श्लोकों को इस संग्रह में से निकाल दिया गया है—उन्हें महर्षि वेदव्यास की कृति न समझ कर प्रक्षिप्त ही समझना चाहिए। कौन सा श्लोक वेद-

व्यास कृत है और कौन सा प्रक्षिप्त—इसकी परीक्षा के लिये बुद्धि के अतिरिक्त और कोई साधन हमारे पास नहीं है।

यह बात तो प्रायः सभी मानते हैं कि महाभारत में मिलावट की कमी नहीं है। गीता महाभारत का ही एक अंश है अतः उसमें यदि प्रक्षिप्त श्लोक पाये जावें तो क्या आश्चर्य है। जिन लोगों ने महाभारत में प्रक्षेप किया है—वह गीता जैसे महत्वपूर्ण अंश में प्रक्षेप किये बगैर क्योंकर रह सकते थे। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि महाभारत में प्रक्षेप होने के साथ-साथ ही समय-समय पर गीता में भी प्रक्षेप होता रहा है। परस्पर विरोधी श्लोकों का पाया जाना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रक्षेप करने वाले या तो पौराणिक थे या नवीन वेदान्ती। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अधिकतर प्रक्षेप वैष्णव सम्प्रदाय की ओर से किया गया है। यह लोग श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार सिद्ध करना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने स्थान-स्थान पर गीता में प्रक्षेप किया। इस प्रकार के श्लोक बनाकर रखे गये जिससे लोग श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार मान लें।

गीता में मुख्यतया निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दी गई है जिसका मूल आधार यजुर्वेद का निम्नलिखित मंत्र है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजुर्वेद अ० ४० मं० २)

अर्थात् मनुष्य इस लोक में निष्काम भाव से कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार किये हुये कर्म मनुष्य को लिप्त नहीं करते। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

गीता के कई श्लोकों को वेद मन्त्रों का उल्था (तर्जमा) कहा जा सकता है उदाहरणार्थः—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
(यजुर्वेद अ० ४० मं० ५)

अर्थात् वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह दूर भी है और समीप भी है। वह इस समस्त जगत के अन्दर भी है और इसके बाहर भी है।

अब इसी सम्बन्ध में गीता का श्लोक देखियेः—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
(गीता अ० १३, श्लोक १५)

अर्थात् वह प्राणियों के अन्दर भी है और बाहर भी है, चलने वाला भी है और न चलने वाला भी है। सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा न जाना जाने वाला तथा दूर भी है और पास भी है।

यजुर्वेद के ४० वें अध्याय का छटा मन्त्र हैः—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥
(यजुर्वेद अ० ४०, मं० ६)

अर्थात् जो मनुष्य सब प्राणियों को अपने में और सब प्राणियों में अपने को देखता है, वह फिर संशय को प्राप्त नहीं होता।

गीता के निम्नलिखित श्लोक में भी यही भाव प्रदर्शित हैः—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता अ० ६, श्लोक २६)

अर्थात् योग से युक्त आत्मा वाला तथा सर्वत्र समदृष्टि रखने वाला पुरुष सब प्राणियों में अपने को और सब प्राणियों को अपने में देखता है।

यदि अन्वेषणात्मक दृष्टि से देखा जावे तो विदित होगा कि गीता उपनिषदों के आधार पर लिखी हुई है। कई स्थानों पर तो उपनिषद के श्लोकों को जैसे का तैसा अथवा थोड़े से परिवर्तन के साथ गीता में समाविष्ट कर लिया गया है। निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से पाठकों को यह बात स्पष्ट हो जायेगीः—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
(कठोपनिषद् अ० १, वल्ली २, मं० १५)

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥
(गीता अ० ८, श्लोक ११)

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(कठोपनिषद् अ० १, वल्ली २, मं० १८)

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(गीता अ० २, श्लोक २०)

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

(कठोपनिषद् अ० १, वल्ली २, मं० १९)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

(गीता अ० २, श्लोक १९)

☆

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

(कठोपनिषद् अ० १, वल्ली ३, मं० १०)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(गीता अ० ३, श्लोक ४२)

★

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥
(कैवल्योपनिषत् प्रथम खंड, श्लोक १०)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता अ० ६, श्लोक २९)

वेदैरनीकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति ॥
(कैवल्योपनिषत् खंड २, श्लोक ४)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥
(गीता अ० १५, श्लोक १५)

★

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ३, श्लोक १६)

यह श्लोक गीता में जैसा का तैसा शामिल कर लिया गया है। देखो अध्याय १३, श्लोक १३।

★

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं वृहत्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ३, श्लोक १७)

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

(गीता अ० १३, श्लोक १४)

★

छान्दोग्योपनिषद् तथा वृहदारण्यकोपनिषद् के भी अनेक भावों को गीता में प्रगट किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में जो संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन आता है—वह कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय की तृतीय वल्ली से लिया हुआ है। इसी प्रकार के और भी प्रमाण हैं जिनकी पूरी व्याख्या इस छोटी सी भूमिका में सम्भव नहीं। इस लेख से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि पाठकों को यह बात भली भांति विदित हो जावे कि गीता वेदों और उपनिषदों के आधार पर लिखी गई है।

अवतारवाद के प्रतिपादन में गीता में जो श्लोक आते हैं उनको प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये क्योंकि यह वेदविरुद्ध हैं। वेद कहता है—

"न तस्य प्रतिमा अस्ति"

(यजुर्वेद अ० ३२, मं० ३)

अर्थात् उस परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं है। यजुर्वेद के निम्न-लिखित मंत्र में भी यही बात बताई गई है:—

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्"।

(यजुर्वेद अ० ४०, मंत्र ८)

इस मन्त्र में परमात्मा को "अकायम्" (शरीररहित) कहकर पुकारा गया है जिसका मतलब यह है कि वह परमात्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा नैमित्तिक सब प्रकार के शरीरों से रहित है अतः इस प्रकार के श्लोकों को जिनमें अवतारवाद का प्रतिपादन है—वेदविरुद्ध होने से अप्रमाणित तथा प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। गीता के निम्नलिखित श्लोक में भी अवतारवाद का खंडन किया गया है: —

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता अ० ७, श्लोक २४)

अर्थात् मेरे अविनाशी तथा सर्वश्रेष्ठ परमभाव को न जानते हुये निर्बुद्धि लोग मुझ अव्यक्त परमात्मा को व्यक्तिरूप में आया हुआ मानते हैं।

इसी प्रकार मूर्तिपूजा को वैध ठहराने के लिये गीता में निम्न-लिखित श्लोक का प्रक्षेप किया गया है:—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता अ० ९, श्लोक २६)

अर्थात् जो भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा जल भेंट करता

है, उस संयतात्मा पुरुष की भक्तिपूर्वक अर्पण की हुई वस्तु का मैं उपभोग करता हूँ।

जैसा कि उपर्युक्त यजुर्वेद के प्रमाण से सिद्ध है कि उस परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं है इसलिये मूर्तिपूजा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त जिस परमात्मा ने समस्त वस्तुयें हमको प्रदान की हैं—उसकी भेंट हम कर ही क्या सकते हैं। अनन्य भक्ति, प्रेम, श्रद्धा और वेदानुकूल श्रेष्ठ आचरण ही उस परमात्मा की सच्ची भेंट है न कि पत्र पुष्प और जल आदि। स्वयं गीताकार भी ब्रह्म को अव्यक्तमूर्ति मानता है जैसा कि निम्नलिखित प्रमाण से स्पष्ट है:—

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना"

(गीता अ० ६, श्लोक ४)

अर्थात् मुझ अव्यक्तमूर्ति ब्रह्म से यह सारा जगत व्याप्त है।

इसी प्रकार गीता में अद्वैतवाद की पुष्टि में जो कहीं-कहीं कोई श्लोक आता है—उसे नवीन वेदान्तियों का किया हुआ प्रक्षेप समझना चाहिये। सारी गीता में निम्नलिखित दो श्लोक ही ऐसे हैं जिनमें अद्वैतवाद का स्पष्टरूप से प्रतिपादन है:—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता अ० ४, श्लोक २४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

(गीता अ० ६, श्लोक १६)

इन श्लोकों को प्रक्षिप्त समझने का एक कारण यह भी है कि इनका स्वयं गीता से विरोध है। गीताकार अद्वैतवाद का मानने वाला नहीं है परन्तु त्रैतवाद अर्थात् प्रकृति, जीव और परमात्मा—तीनों का मानने वाला है जैसा कि निम्नलिखित श्लोकों से प्रगट हैः—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(गीता अ० १५, श्लोक १६, १७)

अर्थात् इस लोक में नाशवान और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं। समस्त प्राणियों के शरीर नाशवान हैं और जीवात्मा को अविनाशी कहा जाता है परन्तु उत्तम पुरुष तो और ही है जिसे परमात्मा कहा जाता है और जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सब प्राणियों का भरण पोषण करता है।

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि गीताकार त्रैतवाद का मानने वाला है अतः इस प्रकार के श्लोकों को जिनमें अद्वैतवाद का प्रतिपादन है प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। गीताकार प्रकृति को जगत का उपादान कारण मानता है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट हैः—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता अ० ६, श्लोक १०)

अर्थात् मेरे निरीक्षण में प्रकृति चराचर सहित सब जगत को उत्पन्न करती है और इसी कारण यह संसार चक्र घूमता रहता है।

निम्नलिखित श्लोक में भी यही भाव व्यक्त किया गया है:—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

(गीता अ० ९, श्लोक ७)

अर्थात् हे कुन्तीपुत्र, समस्त प्राणी सृष्टि का अन्त होने पर मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् उसमें लीन हो जाते हैं और सृष्टि का प्रारम्भ होने पर मैं उन्हें पुनः उस प्रकृति से उत्पन्न करता हूँ ।

१८ वें अध्याय में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्तव्य लिखे हैं—उनमें प्रत्येक के साथ "स्वभावजम्" शब्द आया है जो कि इस बात का परिचायक है कि गीताकार वर्णव्यवस्था गुण, कर्म तथा स्वभाव के आधार पर मानता है, जन्म के आधार पर नहीं मानता ।

गीताकार वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से प्रगट है:—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

(गीता अ० ३, श्लोक १५)

अर्थात् कर्म का विधान वेद में है और वेद अविनाशी परमात्मा के प्रगट किये हुये हैं इसलिये सर्वव्यापक ब्रह्म की सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठा होती है ।

निम्नलिखित श्लोक से भी प्रगट है कि गीताकार वेद के जानने वालों को ब्रह्मज्ञानी मानता है :—

यदक्षरं वेदविदो वदंति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
(गीता अ० ८, श्लोक ११)

अर्थात् वेद के जानने वाले जिसे अक्षर कहते हैं और जिसमें राग-रहित योगी लोग प्रवेश करते हैं ।

उपर्युक्त श्लोकों को सामने रखकर अब ज़रा उन श्लोकों को पढ़िये जिनमें वेदों की निन्दा है, उदाहरणार्थ :—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥
(गीता अ० २, श्लोक ४५, ४६)

अर्थात् हे अर्जुन, वेदों में त्रिगुणात्मक सृष्टि का विषय वर्णित है । तू इन तीनों गुणों से ऊपर उठकर, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित होकर नित्य वस्तु में स्थित रहता हुआ, योग और क्षेम की पर्वा न करता हुआ आत्मिक बल वाला बन । जब चारों ओर पानी भरा हुआ हो तो एक छोटे से जलाशय की जितनी आवश्यकता रह जाती है—उतना ही प्रयोजन एक ज्ञानी ब्राह्मण का वेदों से रहता है ।

एक ओर तो इस प्रकार के श्लोक हैं जिनमें वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना गया है और दूसरी ओर वह श्लोक हैं जिनमें वेदों की निन्दा है अतः प्रगट है कि यह एक व्यक्ति के लिखे हुये नहीं हो सकते । इसलिये बुद्धिमानों को चाहिये कि इस प्रकार के श्लोकों को, जिनमें वेदों की निन्दा है, प्रक्षिप्त समझें ।

गीता में कुल ७०० श्लोक हैं–जिनमें से १७२ श्लोक प्रक्षिप्त समझ कर निकाले गये हैं। प्रत्येक श्लोक के निकालने का कारण परिशिष्ट में दे दिया गया है। जो सज्जन हमारी किसी त्रुटि से हमको अवगत करेंगे अथवा कोई विशेष सुझाव रखेंगे और यदि वह निष्पक्ष तथा माननीय हुआ तो उसके अनुसार अगले संस्करण में सुधार कर दिया जावेगा। इत्यलम्।

पौष कृष्णा द्वितीया
सं० २०१८ वि०

कविराज रघुनन्दनसिंह "निर्मल"

चार अनमोल रत्न

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥
(२ । १६)

★

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(२ । ४२)

★

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
(६ । ५)

★

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । २६)

★

उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ अन्दर देखिए)

* ओ३म् *

"गीता का सच्चा स्वरूप"

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले कि हे संजय, कुरुक्षेत्र नामक धर्मक्षेत्र में मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने जो युद्ध की इच्छा वाले वहां एकत्रित हुए थे—क्या किया ।

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय बोला उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह बनाये हुए देखकर द्रोणाचार्य के पास जाकर राजा दुर्योधन यह वचन बोला—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तवशिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य, पाण्डु पुत्रों की इस विशाल सेना को देखिये जिसकी व्यूह रचना आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा की गई है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इस सेना में युद्ध में भीम और अर्जुन के समान महान धनुषधारी बहुत से शूरवीर हैं। सात्यकि, विराट और महारथी राजा द्रुपद,

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान और शक्तिशाली काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और पुरुषों में श्रेष्ठ शैव्य,

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

पराक्रमी युधामन्यु और शक्तिशाली उत्तमौजा, सुभद्रा का बेटा अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र—यह सब के सब ही महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, हमारी ओर के जो विशेष विशेष योद्धा हैं उनको आप जान लीजिये। आपकी जानकारी के लिये मैं अपनी सेना के सेनापतियों का वर्णन करता हूं।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

आप और भीष्म, कर्ण तथा समरविजयी कृपाचार्य तथा उसी प्रकार अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

और भी वहुत से शूरवीर जिन्होंने मेरे लिये अपने प्राणों का मोह त्याग दिया है, जो नाना प्रकार के शस्त्रों से प्रहार करने वाले हैं तथा सवके सव युद्ध करने में निपुण हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी यह सेना अपरिमित शक्तिवाली अर्थात् अजेय है और भीम द्वारा रक्षित उनकी यह सेना परिमित वलवाली है अर्थात् इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिये सारे ही मोर्चों पर अपने अपने स्थानों पर डटे हुये आप सब लोग भीष्म पितामह की ही रक्षा करें।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कुरुकुल के वृद्ध परमप्रतापी भीष्म पितामह ने दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुये सिंह के समान ऊंची आवाज़ से गर्ज कर अपना शंख वजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

उसके बाद भेरी, शंख, ढोल, नगाड़े तथा नरसिंहे एक साथ ही वज उठे जिससे बड़ा भयंकर शब्द हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

उसके पश्चात् सफ़ेद घोड़ों से जुते हुये विशाल रथ पर बैठे हुये श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने दिव्य शंख बजाये।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण महाराज ने पांचजन्य नामक शंख, अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख और भयानक कर्म करने वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नाम का महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रोयुधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नाम का शंख तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

श्रेष्ठ धनुषधारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न और राजा विराट तथा न हराया जा सकने वाला सात्यकि,

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

राजा द्रुपद, द्रौपदी के पांचों बेटे और सुभद्रा पुत्र महाबाहु अभिमन्यु, इन सबने हे पृथ्वीपति, अलग-अलग अपने-अपने शंख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

उस भयङ्कर शब्द ने आकाश और पृथ्वी दोनों को गुंजाते हुये धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय फाड़ डाले।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे पृथ्वीराज, इसके बाद पाण्डु पुत्र अर्जुन जिसके रथ की ध्वजा पर वानर का चिन्ह बना हुआ था, धृतराष्ट्र के पुत्रों को लड़ाई के लिये सामने खड़ा देखकर शस्त्र चलना प्रारम्भ होने के समय धनुष उठाकर श्रीकृष्ण महाराज को सम्बोधन करके बोला कि हे अच्युत (अपने स्थान से न डिगने वाले), दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को खड़ा कर दीजिये ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

ताकि मैं युद्ध की कामना रखने वाले सामने खड़े हुये इन लोगों को भली भांति देखलूं कि इस युद्ध के उद्योग में मुझे किन-किन के साथ लड़ना है ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय (हित) चाहने वाले जो लोग यहां आये हैं, उन लड़ने वालों को मैं देखूंगा ।

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

हे भारत (भरतकुल में उत्पन्न होने वाले), गुडाकेश (निद्रा को जीतने वाला) अर्जुन के ऐसा कहने पर हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामी अर्थात् जितेन्द्रिय) श्रीकृष्ण महाराज ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा करके

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

भीष्म, द्रोणाचार्य तथा समस्त राजाओं के सामने अर्जुन से ऐसा कहा कि हे कुन्तीपुत्र इन लड़ाई के लिये एकत्रित हुये कौरवों को देख ।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

वहां अर्जुन ने दोनों ही ओर की सेनाओं में ठहरे हुये चाचाओं, दादाओं, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, वेटों, पोतों, सखाओं, श्वसुरों (ससुरों) तथा सुहृदों (प्यारों) को देखा । वह कुन्तीपुत्र अर्जुन उन समस्त बन्धुओं को खड़ा देखकर

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

अत्यन्त कृपा के भावों से परिपूर्ण होकर विषाद (शोक, दुःख) करता हुआ यह वचन वोला कि हे कृष्ण, लड़ाई की इच्छा वाले सामने खड़े हुये अपने इन बन्धुओं को देखकर

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२६॥

मेरे अंग शिथिल हुये जारहे हैं, मुख सूखा जारहा है, शरीर में कंपकपी है तथा रोंगटे खड़े होरहे हैं ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से फिसला जारहा है, शरीर की त्वचा (चमड़ी) जल रही है, मेरा मन चक्कर खारहा है और मैं यहां खड़ा रहने में भी असमर्थ हूँ ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव, मैं उल्टे अर्थात् विनाशकारी लक्षण देख रहा हूँ और युद्ध में अपने बन्धुओं को मारकर कल्याण भी नहीं देखता ।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण, न मैं विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ, न सुख चाहता हूँ । हे गोविन्द, राज्य से भोगों से अथवा जीवन से हमें क्या मतलब अर्थात् अपने बन्धुओं को मारकर यह सारी चीजें हमारे लिए बेकार हैं ।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
ते इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४

जिन लोगों के लिये हमें राज्य, भोग और सुख चाहिये था, वही लोग अर्थात् आचार्य, पिता, पुत्र और उसी प्रकार दादा, मामा, श्वसुर, पोते, साले तथा सम्बन्धी, अपने प्राणों तथा धन का मोह त्याग कर हमारे सामने युद्ध में लड़ने के लिए खड़े हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन (मधु राक्षस को मारने वाले), इन लोगों के द्वारा मारे जाने पर भी मैं इनको नहीं मारना चाहता चाहे तीनों लोकों का राज्य ही क्यों न मिलता हो फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर हमें क्या खुशी हो सकती है। इन अत्याचारियों को मार कर हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिये धृतराष्ट्र के पुत्रों को जो हमारे बन्धु हैं हम मारने के योग्य नहीं हैं अर्थात् इनका मारना हमारे लिये योग्य नहीं है। अपने बन्धुओं को मार कर हे कृष्ण हम क्योंकर सुखी होंगे।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

लोभ से जिनका ज्ञान नष्ट होगया है, ऐसे यह लोग यद्यपि कुल के नाश से होने वाली हानियों और मित्रों के साथ शत्रुता करने के पाप को नहीं देखते

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन, कुल के नाश से होने वाली हानियों को देखने वाले हम लोगों को इस पाप से बचने का उपाय क्यों नहीं जानना चाहिये अर्थात् उस पर गौर क्यों नहीं करना चाहिये ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल का नाश होने से कुल के परम्परा से चले आरहे प्राचीन धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म के नष्ट होने पर सारे कुल को अधर्म दबा लेता है ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण, अधर्म द्वारा कुल को दबा लिये जाने पर कुल की स्त्रियां बिगड़ जाती हैं । हे वार्ष्णेय (वृष्णि वंश में उत्पन्न), स्त्रियों के बिगड़ जाने पर वर्णसंकर संतान पैदा होती है ।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥

वर्णसंकर को उत्पन्न करने वाले इन दोषों के कारण कुलघातियों के परम्परा से चले आरहे प्राचीन जातिधर्म तथा कुल धर्म नाश को प्राप्त होते हैं ।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

हे जनार्दन, जिनके कुल धर्म नष्ट होगये हैं ऐसे मनुष्यों को अनिश्चित काल तक नरक (दुःखदायक नीच योनियां) में रहना पड़ता है, ऐसा हम सुनते आये हैं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥

ओह, कितने दुःख की बात है कि हम लोग इतना बड़ा पाप करने लगे हैं जो कि राज्य और सुख की प्राप्ति के लोभ से अपने बन्धुओं को मारने के लिये उद्यत हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥

यदि मुझ मुकाबला न करने वाले निःशस्त्र (शस्त्ररहित) को धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में मार डालें तो यह मेरे लिये बड़े कल्याण की बात होगी।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

ऐसा कहकर शोक से व्याकुल मन वाला अर्जुन युद्ध भूमि में धनुष और बाण को छोड़कर रथ के मध्यभाग में बैठ गया।

दूसरा अध्याय

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

इस प्रकार दया से परिपूर्ण, आंसुओं से भरे हुये व्याकुल नेत्रों वाले तथा विषाद (शोक) करते हुये उस अर्जुन को मधुसूदन (मधु राक्षस को मारने वाले) श्रीकृष्ण महाराज यह वचन बोले ।

श्रीकृष्ण उवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन इस नाजुक घड़ी में अनार्यों द्वारा सेवित, सुख का न देने वाला, बदनामी को करने वाला यह अज्ञान तुझे कहां से आगया ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे अर्जुन, तू नपुंसकता को प्राप्त न हो, यह तेरे अनुकूल नहीं है । हे शत्रुओं को संताप देने वाले, मन की तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए उठ ।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन, मैं बाणों द्वारा युद्धभूमि में भीष्म और द्रोण के साथ क्योंकर लड़ूंगा । हे शत्रुनाशक, वह दोनों ही मेरे लिये पूजा के योग्य हैं ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महाशय गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना भी कल्याणकारी समझता हूँ। क्योंकि इन गुरुजनों को मारकर जो अर्थ और कामरूपी भोग इस लोक में भोगूंगा वह खून में सने हुये होंगे अर्थात् उनमें मुझे गुरुजनों के खून की गन्ध आयेगी।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

हम यह भी नहीं जानते कि कौन सी वात हमारे लिये श्रेष्ठ है; न ही हम यह जानते हैं कि हम उनको जीतेंगे या वह हमको जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सम्मुख युद्ध करने के लिये खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः,
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कृपणता (दीनता कायरता) के दोष से मारे हुये स्वभाव वाला तथा धर्म (कर्तव्य) के विषय में निर्णय न कर सकने वाले चित्त वाला मैं आपसे पूछता हूँ जो मेरे लिये निश्चित रूप से कल्याणकारी मार्ग हो वह मुझे बताइये। मैं आपका शिष्य हूं, मुझ शरण में आये हुये को शिक्षा दीजिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

पृथ्वी पर शत्रुरहित समृद्धिशाली राज्य तथा देवताओं पर शासन प्राप्त करके भी मैं ऐसा कोई साधन नहीं देखता हूँ जो मेरे इस शोक को दूर कर सके जो मेरी इन्द्रियों को सुखाये डाल रहा है।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

निद्रा को जीतने वाला तथा शत्रुओं को संताप देने वाला अर्जुन श्रीकृष्ण महाराज से ऐसा कहकर तथा यह कहकर कि "मैं युद्ध नहीं करूंगा," मौन होगया।

संजय उवाच—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

संजय बोला कि हे भारत (भरत वंश में उत्पन्न), दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुये उस अर्जुन को हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामी अर्थात् जितेन्द्रिय) श्रीकृष्ण महाराज मुस्कराते हुये यह वचन बोले।

श्रीकृष्ण उवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

जिन चीजों का शोक नहीं करना चाहिये उनका तू शोक करता है और बातें पण्डितों की सी करता है। जिसके प्राण निकल गये और जिसके प्राण अभी नहीं निकले—पण्डित लोग उन दोनों का ही शोक नहीं किया करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

मैं, तू, या यह राजा लोग किसी समय में नहीं थे ऐसी बात नहीं है और न ही यह बात है कि इसके बाद अर्थात् भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जिस प्रकार शरीरधारी (जीवात्मा) को इस शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापा, तीन अवस्थायें आती हैं उसी प्रकार एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में जाना है । बुद्धिमान धीर पुरुष इस परिवर्तन से मोह को प्राप्त नहीं होता ।

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे अर्जुन, गर्मी, सर्दी तथा सुख और दुःख को देने वाले इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध आने जाने वाले अर्थात् क्षणिक तथा नाशवान हैं । हे भारत (भरत कुल में उत्पन्न), इनको सहन कर अर्थात् इनसे प्रभावित न हो ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख और सुख को बराबर समझने वाले जिस धीर पुरुष को यह इन्द्रियों और विषयों के संयोग कष्ट नहीं देते वह अमर-पद (मोक्ष) का अधिकारी होता है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो वस्तु नहीं है वह कभी पैदा नहीं होती और जो वस्तु है उसका कभी समूल नाश नहीं होता अर्थात् अभाव से कभी भाव नहीं होता और भाव का कभी अभाव नहीं होता। इन दोनों ही बातों को तत्व-दर्शी ज्ञानी पुरुषों ने अच्छी प्रकार देखा है अर्थात् इसकी पूरी छान-बीन करके यह सिद्धान्त संसार के सामने रखा है।

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

जिसका इस सारे जगत में विस्तार है उस आत्मा को अविनाशी जान। इस अविनाशी आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नित्य (हमेशा बना रहने वाला), अनाशिनः (जिसका कभी नाश नहीं होता), अप्रमेय (इन्द्रियों से परे) ऐसे इस जीवात्मा के यह शरीर नाशवान कहे गये हैं अर्थात् इन शरीरों का नाश होना निश्चित है इसलिये हे भारत, युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस जीवात्मा को मारने वाला मानता है और जो इसको मरा हुआ मानता है—वह दोनों ही कुछ नहीं जानते क्योंकि यह जीवात्मा न कभी मरता है और न कभी मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न यह जीवात्मा कभी पैदा होता है न कभी मरता है और न ही इसके वारे में यह कहा जा सकता है कि यह होकर फिर होगा। यह अजन्मा (जन्म न लेने वाला), नित्य (हमेशा रहने वाला), शाश्वत (स्थायी) तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे अर्जुन, जो मनुष्य इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा तथा अव्यय (अपरिवर्तनशील) जानता है वह क्योंकर किसी को मरवाता है और क्योंकर किसी को मारता है अर्थात् न वह किसी को मरवा सकता है और न किसी को मार सकता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जिस प्रकार पुराने कपड़ों को छोड़कर मनुष्य दूसरे नये कपड़ों को धारण करता है उसी प्रकार देही (जीवात्मा) पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों में जाता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

न इस जीवात्मा को शस्त्र काट सकते हैं, न इसको आग जला सकती है, न ही इसको पानी तर कर सकता है और न इसको हवा सुखा सकती है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह जीवात्मा काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, तर नहीं किया जा सकता तथा सुखाया भी नहीं जा सकता। यह नित्य (हमेशा स्थित रहने वाला), सर्वगत (सब जगह पहुंचने वाला), स्थाणु (स्थायी), अचल तथा सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह जीवात्मा अव्यक्त (न दिखाई देने वाला), अचिन्त्य (जिसको ध्यान में न लाया जा सके) तथा अविकारी (जिसमें कोई परिवर्तन न हो) कहा जाता है। इसलिये इसको ऐसा जानकर इसका शोक करना उचित नहीं है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि इसको तू नित्य पैदा होने वाला या नित्य मरने वाला भी माने तो भी हे महाबाहु अर्जुन, तुझे इस प्रकार इसका शोक नहीं करना चाहिये।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि पैदा होने वाले का मरना निश्चित है और मरने वाले का

जन्म लेना भी निश्चित है इसलिये इस न टल सकने वाली बात के बारे में तुझे शोक करनाउचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥२८॥

जो प्राणी आरम्भ में दिखाई नहीं देते थे अर्थात् विना शरीर के थे, वह मध्य में दिखाई देने लगे अर्थात् शरीर वाले होगये और अन्त में नाश होने पर फिर विना शरीर के हो गये तो इसमें दुःख की क्या बात है। मतलव यह कि पैदा होने से पहले प्राणी जिस अवस्था में थे मरने के बाद भी उसी अवस्था में रहे तो फिर इसमें शोक किस बात का।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

इस जीवात्मा को कोई आश्चर्य के साथ देखता है, कोई दूसरा आश्चर्य के साथ इसका वर्णन करता है और कोई और आश्चर्य के साथ इसको सुनता है और सुनकर भी इसको कोई नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत, यह जीवात्मा सब प्राणियों के शरीरों में हमेशा ही अवध्य (न मारा जा सकने वाला) है। इसलिये समस्त प्राणियों के लिये तुझे शोक करना उचित नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

और अपने धर्म की ओर देखकर भी तुझे डांवाडोल होना उचित नहीं है क्योंकि धर्मपूर्वक युद्ध से बढ़कर क्षत्रियों के लिये कल्याणकारी और कोई कर्तव्य नहीं है ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

जो स्वयमेव (अपने आप ही) प्राप्त हो गया है तथा खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है—ऐसे युद्ध को हे अर्जुन, भाग्यशाली क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं अर्थात् भाग्यशाली क्षत्रियों को ही ऐसा युद्ध का अवसर प्राप्त होता है ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अब अगर तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो अपने धर्म (कर्तव्य) को और यश को छोड़कर पाप का भागी होगा ।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

और संसार के लोग तेरी न मिटने वाली बदनामी की चर्चा करेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिये बदनामी मौत से भी बढ़कर होती है ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

महारथी लोग ऐसा मानेंगे कि तू डर कर युद्ध से हट गया है ।

जिन की दृष्टि में तेरा बहुत मान है उनकी नज़रों में तू लघुता को प्राप्त होगा अर्थात् तुच्छ हो जायगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तेरे शत्रु तेरी शक्ति की निन्दा करते हुये तेरे बारे में बहुत सी ऐसी बातें कहेंगे जो न कहनी चाहियें। फिर उससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अगर तू मारा जायगा तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और अगर युद्ध में जीतेगा तो पृथ्वी का राज भोगेगा। इसलिये हे कुन्तीपुत्र, इस बात का निश्चय करके उठ कि युद्ध करना है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख, दुःख, लाभ, हानि, हार, जीत—इन सबको समान समझते हुये युद्ध में लग जा। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे अर्जुन, यह ज्ञान तेरे प्रति सांख्ययोग के विषय में कहा गया अब इसी को निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन। यह वह ज्ञान है कि जिससे युक्त हुआ तू कर्म के बन्धनों को अच्छी प्रकार काट सकेगा।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इस निष्काम कर्मयोग के मार्ग में अभिक्रम (उद्योग) का नाश नहीं है अर्थात् इस मार्ग में की हुई कोशिश कभी बेकार नहीं जाती तथा इसका विपरीत फल भी नहीं होता अर्थात् इसका कभी उल्टा परिणाम भी देखने में नहीं आता। इस निष्काम कर्मयोग रूपी धर्म का थोड़ा सा पालन भी महान भय (संकट) से छुड़ा देता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन, इस निष्काम कर्मयोग के मार्ग में निश्चयात्मक (निश्चय पर पहुंची हुई) बुद्धि एक ही है अर्थात् निष्काम कर्मयोगी की एक निश्चयात्मक बुद्धि होती है। अनिश्चित बुद्धिवाले (निष्काम कर्मयोग का पालन न करने वाले) पुरुषों की बुद्धियां बहुत शाखाओं वाली तथा असंख्य प्रकार की होती हैं अर्थात् नाना प्रकार के फलों की कामनाओं के कारण उनकी बुद्धि अनेक मार्गों में बिखर जाती है इसी कारण वह किसी एक निश्चय पर नहीं पहुंच पाते।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४२॥

कर्म पर ही तेरा अधिकार है उसके फल पर कदापि नहीं। कर्मों के फल की इच्छा रखने वाला मत बन और अकर्मण्यता से भी तेरा सम्बन्ध न हो अर्थात् कर्मों का त्याग भी तुझको नहीं करना चाहिये।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यासिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४३॥

हे अर्जुन, फल की आसक्ति को छोड़कर, सफलता और असफलता को बराबर समझते हुए, निष्काम कर्मयोग में स्थित होकर कर्म कर। इस समता का ही नाम योग है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४४॥

इस समत्वबुद्धि नामक योग के मुकाबले में फल की कामना से किया हुआ कर्म बहुत निकृष्ट है, इसलिये समत्वबुद्धि नामक योग की शरण ले, क्योंकि फल की इच्छा रखने वाले दीन अवस्था में देखे जाते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥४५॥

समत्वबुद्धि नामक योग से युक्त पुरुष इस संसार में ही अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों को छोड़ देता है अर्थात् पाप पुण्य के बन्धनों से छूट जाता है इसलिये इस समत्वबुद्धि नामक योग की प्राप्ति में लग जा। कर्मकुशलता (निष्काम भाव से कर्म करना) का ही नाम योग है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥४६॥

समत्वबुद्धि नामक योग से युक्त बुद्धिमान लोग कर्मों से पैदा होने वाले फल को त्याग कर जन्म के बन्धन से छूटे हुये रोग तथा दुःख-रहित-परमपद (मोक्ष) को हासिल करते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥४७॥

जब तेरी बुद्धि मोह रूपी दलदल को पार कर जायेगी तब सुने जाने के योग्य और सुने हुये इस संसार से तुझे वैराग्य हो जायेगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥४८॥

नाना प्रकार की दलीलों को सुनने से परेशान तेरी बुद्धि जब समाधि में (भगवान के ध्यान में) निश्चल होकर स्थिर भाव से ठहर जायेगी तब तू समत्वबुद्धि नामक योग को प्राप्त करेगा।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥४९॥

अर्जुन बोला कि हे केशव, समाधि में ठहरे हुये स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य की क्या पहचान है। स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य क्या बोलता है, किस प्रकार बैठता है, किस प्रकार चलता है।

श्रीकृष्ण उवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५०॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे अर्जुन, जब मन में आई हुई समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है तब आत्मा द्वारा आत्मा में ही मग्न रहने वाला वह पुरुष स्थिरबुद्धि कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५१॥

दुःख में जिसका मन परेशान नहीं होता, सुख की जिसको लालसा नहीं रही, जो राग, भय और क्रोध से रहित हो गया—ऐसे मुनि (मननशील व्यक्ति) को स्थिर-बुद्धि कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५२॥

जो सब जगह स्नेह रहित है अर्थात कहीं भी जिसका प्रेम नहीं है, जो अच्छी चीजों को प्राप्त करके खुश नहीं होता और बुरी चीजों को प्राप्त करके नफरत (घृणा) नहीं करता, उसको स्थिरबुद्धि समझना चाहिये ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५३॥

जब यह मनुष्य अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से इस प्रकार सिकोड़ (खींच) लेता है जिस प्रकार कछुआ सब ओर से अपने अंगों को सिकोड़ता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५४॥

जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयभोग रूपी भोजन नहीं देता उसके विषय समाप्त हो जाते हैं लेकिन विषयों की चाहना वनी रहती है, वह चाहना भी भगवान के दर्शनों को प्राप्त करके दूर हो जाती हैं ।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥५५॥

हे कुन्तीपुत्र, यत्न करते हुये विद्वान पुरुष के मन को भी यह मथन करने वाली इन्द्रियां ज़बर्दस्ती अपनी ओर खींच लेती हैं ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५६॥

उन समस्त इन्द्रियों को वश में करके एकाग्र चित्त होकर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर हो। जिस मनुष्य की इन्द्रियां उसके वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है।×

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥५७॥

विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष को विषयों से लगाव (आसक्ति, रग़बत) पैदा हो जाता है। लगाव से काम पैदा होता है और काम से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्‌बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥५८॥

क्रोध से अज्ञान पैदा होता है और अज्ञान से स्मरण-शक्ति में भ्रम पैदा होता हैं। स्मरणशक्ति में भ्रम पैदा होने से बुद्धि का नाश हो

×इस श्लोक को या इसी प्रकार के और श्लोकों को पढ़कर यह न समझना चाहिये कि श्रीकृष्ण महाराज ईश्वर का अवतार थे या ईश्वर का अवतार होता है। वेद ईश्वर को "अकायम्" अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म तथा नैमित्तिक तीनों प्रकार के शरीरों से रहित बताता है, इसलिये उसके शरीर धारण करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त आती वह चीज़ है जो पहले वहां न हो। ईश्वर सदा सर्वत्र विद्यमान है, उसके आने जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में और अर्जुन को जिज्ञासु जीव के रूप में पेश करने तथा उनके संवाद को प्रश्नोत्तर का रूप देने में गीताकार का यही अभिप्राय मालूम पड़ता है कि पढ़ने वालों को समझने में आसानी हो तथा लोग ईश्वर का वचन समझ कर विशेष श्रद्धापूर्वक पढ़ें।

जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से उस प्राणी का ही नाश हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥५९॥

'राग, द्वेष (रग़बत, नफ़रत) से हटाई हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ विधेयात्मा (आत्मसंयमी) पुरुष मन की निर्मलता को प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६०॥

मन की प्रसन्नता (निर्मलता) प्राप्त होने पर सब दुःखों का नाश हो जाता है। प्रसन्न-चित्त वाले पुरुष की बुद्धि भी जल्दी ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६१॥

अयुक्त (समत्वबुद्धि नामक योग की प्राप्ति के लिये प्रयत्न न करने वाला) पुरुष की स्थिर बुद्धि नहीं होती और न ही उसमें आस्तिक-भाव (ईश्वर के प्रति विश्वास) होता है। आस्तिकभाव से रहित पुरुष को शान्ति प्राप्त नहीं होती और अशान्तपुरुष को सुख कहाँ अर्थात् सुख नहीं मिलता।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६२॥

विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के पीछे लग जाता है वही इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को उसी प्रकार नष्ट कर

देती है जिस प्रकार पानी में फंसी हुई किश्ती (नाव) को वायु का तूफ़ान ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६३॥

इसलिये हे महाबाहु अर्जुन, जिस पुरुष ने अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से पूरे तौर पर रोक लिया है उसको स्थिर बुद्धि समझना चाहिये ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६४॥

समस्त प्राणी जिसको रात समझते हैं उसमें आत्मसंयमी (योगी) पुरुष जागता है और जिसको सांसारिक प्राणी दिन समझ कर जागते हैं, तत्व को देखने वाला मुनि (मननशील व्यक्ति) उसको रात समझता है । कहने का मतलब यह कि सांसारिक मनुष्य जिसको अन्धकार समझते हैं योगी पुरुष की दृष्टि में वही प्रकाश है और सांसारिक प्राणी जिसको प्रकाश समझते हैं योगी पुरुष की दृष्टि में वह अन्धकार है ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥६५॥

भरे हुए तथा अचल स्थिति वाले समुद्र में जिस प्रकार नदियों के जल गिरकर लय हो जाते हैं उसी प्रकार समस्त कामनायें जिसमें अर्थात् जिसके हृदय में पहुँच कर लय हो जाती हैं, वही शान्ति प्राप्त करता है न कि कामनाओं को भोगने की इच्छा रखने वाला ।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥६६॥

सब कामनाओं तथा ममता और अहंकार को छोड़कर जो पुरुष लालसा रहित होकर विचरता है; वह शान्ति को प्राप्त करता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥६७॥

हे अर्जुन, यह ब्रह्म को प्राप्त किये हुए व्यक्ति की हालत है। इस हालत को पहुँच कर फिर मनुष्य मोह को प्राप्त नहीं होता। मरने के समय में भी इस हालत में ठहरा हुआ व्यक्ति ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म-रूपी मोक्ष को प्राप्त करता है।

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोला कि हे जनार्दन, यदि तुम्हारे विचार में कर्म की अपेक्षा (निस्बत) बुद्धि अधिक श्रेष्ठ है तो मुझे इस भयानक युद्ध-रूपी कर्म में क्यों प्रवृत्त करते हो।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

तुम अपनी मिलीं जुली (दो प्रकार की) बातों से मेरी बुद्धि को मोहित सा कर रहे हो। मुझे तो वह एक निश्चित मार्ग बताओ, जिस पर चलकर मैं कल्याण को प्राप्त करूं।

श्रीकृष्ण उवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे निष्पाप अर्जुन, ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और निष्काम कर्मयोगियों की कर्मयोग से—इस प्रकार से इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा (श्रद्धा, विश्वास) मेरे द्वारा पहले कही गई है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

पुरुष कर्मों का आरम्भ न करने से निष्कर्मता (कर्मों का अभाव) को प्राप्त नहीं होता और न ही कर्मों का त्याग करने से सिद्धि (सफलता, कामयाबी) को प्राप्त करता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

कोई भी मनुष्य किसी काल में क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रहता। सब लोग प्रकृति से उत्पन्न गुणों (सत्व, रज, तम) के मातहत (आधीन) बेबस हुये कर्म करते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो भ्रान्त चित्तवाला पुरुष कर्मेन्द्रियों को रोककर मन द्वारा इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करता रहता है वह मिथ्याचारी (ढोंगी, पाखंडी) कहलाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

हे अर्जुन, जो मनुष्य मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके फल में आसक्ति न रखता हुआ कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का पालन करता है, वह दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

तू नियत अर्थात् ×शास्त्रविहित कर्म कर, क्योंकि कर्मों का त्याग करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। विना कर्म किये तो तेरी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती अर्थात् शरीर को क़ायम (स्थित) रखने के लिये भी कर्म आवश्यक है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

यज्ञ अर्थात् परोपकार के निमित्त किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं वह मनुष्य को कर्म के बन्धन में बांधनेवाले हैं। हे कुन्तीपुत्र, फल की आसक्ति को छोड़कर यज्ञ के लिये अर्थात् परोपकार के लिये कर्म कर।

×यज्ञ, दान, तप, तथा वर्णाश्रमधर्म का पालन—यह शास्त्रविहित कर्म कहलाते हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सृष्टि की आदि में यज्ञों समेत प्रजा का निर्माण करके परमात्मा ने कहा अर्थात् वेदों द्वारा मनुष्यों को उपदेश दिया कि इस यज्ञ के द्वारा तुम तरक्की करो और यह यज्ञ तुमको मनचाही कामनाओं का देने वाला हो ।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं को प्रसन्न करो अर्थात् जल वायु अन्न आदि की शुद्धि करो और वह देवता (जल, वायु, अग्नि, अन्न आदि) तुम्हें प्रसन्न करें अर्थात् तुम्हारी उन्नति का कारण बनें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की उन्नति करते हुये परम कल्याण को प्राप्त होगे।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ द्वारा प्रसन्न हुये देवता (जल, वायु, अग्नि, अन्न आदि) तुम को मनचाहे भोग देंगे। उन दिये हुये भोगों में से उन देवताओं को कुछ न देकर अर्थात् जल, वायु, अग्नि, अन्न आदि की शुद्धि के लिये यज्ञ न करके जो आप ही आप उन भोगों को रखा जाता है वह चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो यज्ञ का बाकी बचा हुआ भाग खाते हैं अर्थात् सबको खिला कर स्वयं खाते हैं, वह समस्त पापों से छूट जाते हैं। जो पापी लोग अपने ही लिये पकाते हैं अर्थात् दूसरों को खिलाये बिना आप ही आप खा जाते हैं—वह पाप को खाते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्न से प्राणी पैदा होते हैं, अन्न की उत्पत्ति बादलों अर्थात् वृष्टि से होती है, वृष्टि की उत्पत्ति यज्ञ से होती है और यज्ञ की उत्पत्ति का आधार कर्म है।

कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म की उत्पत्ति वेद से जान अर्थात् कर्मों का विधान वेद में है और वेद अविनाशी परमात्मा के प्रगट किये हुये हैं इसलिये सर्व-व्यापक ब्रह्म की हमेशा ही यज्ञ में प्रतिष्ठा होती है अर्थात् यज्ञ का करना परमात्मा की आज्ञा का पालन करना है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे अर्जुन, इस प्रकार चलाये हुये सृष्टिचक्र के मुताबिक जो इस संसार में नहीं चलता, वह पाप में उम्र बिताने वाला और इन्द्रियों के विषयों को भोगने में लगा हुआ पुरुष व्यर्थ ही जीता है अर्थात् उसके जीवन से कोई लाभ नहीं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो अपनी आत्मा में रति (प्रीति, अनुराग) रखता है और अपनी आत्मा में ही तृप्त है और अपने आप में ही आनन्द अनुभव करता है—उस मनुष्य को फिर और कुछ करना बाक़ी नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

इस लोक में उसको न काम के किये जाने से कुछ मतलब है और न काम के न किये जाने से कोई प्रयोजन है और समस्त प्राणियों में से किसी पर भी वह अपने किसी स्वार्थ के लिये अवलम्बित नहीं है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिये फल में आसक्ति न रखता हुआ निरन्तर करने योग्य (शास्त्र-विहित) कर्म कर, क्योंकि फल में आसक्ति न रखकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्मा को प्राप्त करता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनक आदि महापुरुष भी कर्म के द्वारा ही सिद्धि (सफलता) को प्राप्त हुए हैं। लोककल्याण को देखते हुए भी तुझे कर्म करना योग्य है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो जो काम श्रेष्ठ पुरुष करता है, उस उसको ही दूसरे लोग भी करते हैं। वह श्रेष्ठ पुरुष जो मिसाल कायम कर देता है, संसार उसके अनुसार ही चलता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन, मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करना बाकी नहीं है और

कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु ऐसी नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो लेकिन फिर भी मैं कर्म में प्रवृत्त हूँ अर्थात् कर्म करता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं किसी समय में भी आलस्यरहित होकर कर्म में प्रवृत्त न रहूँ अर्थात् कर्म छोड़कर बैठ जाऊं तो हे अर्जुन, और लोग भी सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करने लगें अर्थात् वह भी कर्म छोड़-कर बैठ जायें।×

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अगर मैं कर्म न करूं तो यह लोग भी (जो मुझको अपना नेता समझते हैं) नष्ट हो जावेंगे अर्थात् कर्म छोड़कर बैठ जायेंगे। ऐसा करने से मैं वर्णसंकर का उत्पन्न करने वाला तथा प्रजा का नाश करने वाला बनूंगा।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत, जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष कर्म में आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं, उसी प्रकार विद्वान पुरुष आसक्ति न रखता हुआ लोक-कल्याण की भावना (इच्छा) से कर्म करे।

×उपर्युक्त श्लोक से पता चलता है कि उस समय के लोग श्रीकृष्ण महाराज को अपना नेता समझते थे और उनके बताये हुए मार्ग पर चलते थे।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

विद्वान पुरुष अज्ञानियों तथा कर्म में आसक्ति रखने वाले पुरुषों की बुद्धि में कर्म के प्रति अविश्वास पैदा न करे, बल्कि युक्त होकर (योग से युक्त होकर) सब कर्म स्वयं करता हुआ उनसे भी वैसा ही करावे।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥२७॥

समस्त कर्म प्रकृति के गुणों (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) की बदौलत किये जा रहे हैं परन्तु अहंकार से मोहित बुद्धि वाला पुरुष "मैं कर्ता हूँ" अर्थात् इन कर्मों का करने वाला हूँ—ऐसा मानता है।

तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

हे महाबाहु अर्जुन, प्रकृति के गुण तथा कर्मों के विभाग के तत्त्व (सार, राज़) को जानने वाला यह समझ कर कि यह सब कुछ प्रकृति के गुणों तथा इन्द्रियों के परस्पर संयोग का परिणाम है, कर्म में आसक्त नहीं होता।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

प्रकृति के गुणों (सत्व, रज, तम) से मोहित हुये पुरुष प्रकृति के गुण तथा कर्मों में आसक्त हो जाते हैं। उन सब बातों का ज्ञान न रखने वाले मन्दबुद्धि पुरुषों को (जो प्रकृति के गुण तथा कर्मों में आसक्त हो रहे हैं), तमाम बातों का ज्ञान रखने वाला बुद्धिमान पुरुष चलायमान न करे अर्थात् उन्हें कर्म करने से न रोके।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३०॥

ज्ञानवान पुरुष भी अपने स्वभाव के अनुसार चेष्टा (कर्म) करता है। सभी प्राणी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार चलते हैं। इसमें किसी का निग्रह (नियन्त्रण, रोकना) क्या करेगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३१॥

एक एक इन्द्रिय के विषयों में राग और द्वेष ठहरे हुये हैं। उनके वश में मनुष्य को नहीं आना चाहिये क्योंकि वह दोनों ज्ञानमार्ग में रुकावट डालने वाले शत्रु हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३२॥

दूसरे के अच्छी प्रकार पालन किये हुये धर्म की अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म (जो अपने स्वभाव के अनुकूल है) भी कल्याणकारी है। अपने धर्म (कर्तव्य) का पालन करते हुये मर जाना श्रेष्ठ है। दूसरे का धर्म (अपने स्वभाव के अनुकूल न होने से) भय को उत्पन्न करने वाला है।

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३३॥

अर्जुन बोला कि हे वृष्णि वंश में उत्पन्न होने वाले कृष्ण, यह पुरुष इच्छा न रखता हुआ भी ज़बरदस्ती काम पर लगाये हुये के समान किसकी प्रेरणा से पाप करता है।

श्रीकृष्ण उवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३४॥

श्रीकृष्ण बोले, रजोगुण (प्रकृति के तीन गुणों में से एक गुण) से उत्पन्न होने वाला यह काम है और यह क्रोध है (जो मनुष्य से पाप कराता है)। यह बहुत खाने वाला अर्थात् विषय भोगों से कभी तृप्त न होने वाला तथा महापापी है। इस ज्ञानमार्ग में इसको अपना शत्रु समझ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३५॥

धुआं जिस प्रकार अग्नि को और मैल जिस प्रकार शीशे को तथा ज़ेरनाल जिस प्रकार गर्भ को ढक लेती है, उसी प्रकार मनुष्य का यह ज्ञान इस काम से ढका हुआ है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३६॥

हे कुन्तीपुत्र, ज्ञानियों के सदा के शत्रु, अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाले इस काम से मनुष्य का ज्ञान ढका हुआ है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥३७॥

इन्द्रियां, मन और बुद्धि इस कामरूपी शत्रु के निवास-स्थान कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा यह ज्ञान को ढककर जीव को मोहित करता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥३८॥

इसलिये हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, सबसे पहले तू अपनी इंद्रियों को काबू में करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस कामरूपी पापी को मार।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥३९॥

शरीर की अपेक्षा इन्द्रियां सूक्ष्म हैं, इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन से बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धि से सूक्ष्म वह अर्थात् जीवात्मा है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४०॥

हे महाबाहु, इस प्रकार बुद्धि से सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ इस आत्मा को जानकर और अपने द्वारा आप अपने पर काबू करके अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके इस आसानी से न जीते जा सकने वाले कामरूपी शत्रु को मार।

चौथा अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले कि मैंने यह अविनाशी योग पहले विवस्वान के प्रति

कहा था, विवस्वान ने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अपने बेटे इक्ष्वाकु को सुनाया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

इस प्रकार परम्परा से चले आरहे इस योग को राजर्षियों ने जाना। हे शत्रुओं को संताप देने वाले अर्जुन, अब बहुत काल से इस लोक में यह योग नष्टप्राय होगया था अर्थात् इसका रिवाज नहीं रहा था।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही यह प्राचीन योग आज मैंने तुझसे कहा है क्योंकि तू मेरा भक्त (अनुराग और श्रद्धा रखने वाला) और मित्र है। यह योग एक उत्तम रहस्य (आला दर्जे का राज़) है।

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन बोला कि आपका जन्म अब का है और विवस्वान का जन्म पुराना है। मैं यह कैसे जानूं कि आपने यह योग पहले विवस्वान से कहा था।

श्रीकृष्ण उवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्रीकृष्ण बोले कि अब से पहले मेरे और तेरे बहुत से जन्म गुज़र चुके हैं। हे शत्रु को संताप देने वाले, मैं उन सब जन्मों का हाल जानता× हूँ और तू नहीं जानता।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस बारे में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हैं अर्थात् वह भी इसका निर्णय नहीं कर पाते। इसलिये मैं वह कर्म तुझको बतलाऊंगा जिसको जानकर तू बुराइयों से छूट जायेगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥७॥

कर्म क्या है इसको भी जानना चाहिये, विपरीत अर्थात् निषिद्ध कर्म कौनसे हैं इसको भी जानना चाहिये और अकर्म (कर्म न करना) क्या चीज़ है इसको भी जानना चाहिये। कर्म की गति बड़ी गंभीर है अर्थात् कर्म के तत्व को समझना आसान नहीं है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥८॥

कर्म में जो अकर्म को और अकर्म में जो कर्म को देखता है अर्थात् जिसकी दृष्टि में कर्म और अकर्म बराबर हैं, वह मनुष्यों में बुद्धिमान, योगी और समस्त कर्मों का करने वाला है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥९॥

×सतोगुणी पुरुषों को पूर्वजन्म की बातें याद रहती हैं।

जिसके सारे काम फल की कामना के विचार से रहित हैं ऐसे उस ज्ञान की अग्नि में कर्मों को जलाकर भस्म कर देने वाले व्यक्ति को बुद्धिमान लोग पण्डित कहकर पुकारते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥१०॥

कर्मों के फल की कामना को छोड़कर जो सदा सन्तुष्ट है और जिसको भगवान के आश्रय के सिवा किसी दूसरे आश्रय की जरूरत नहीं—ऐसा वह व्यक्ति सब कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥११॥

जिसने अपने चित्त और आत्मा को वश में कर लिया है, जिसको किसी प्रकार की कोई आशा नहीं, जिसने सब प्रकार के पदार्थों के संग्रह करने की मनोवृत्ति को छोड़ दिया है—ऐसा वह मनुष्य केवल शारीरिक कर्म (शरीर क़ायम रखने के लिये जो कर्म आवश्यक हैं) करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥१२॥

जो कुछ मिल जाये उसी में जो संतुष्ट है, सुख दुःख हानि लाभ शीत उष्ण आदि द्वन्द्व (जोड़े) जिस पर असर नहीं करते, जो ईर्ष्या-रहित है तथा सफलता और असफलता जिसके लिये समान हैं—ऐसा वह व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥१३॥

जिसने आसक्ति को छोड़ दिया, जो कर्म के बन्धन से मुक्त हो गया, जिसका चित्त ज्ञान में स्थिर है तथा जो केवल परोपकार के लिये कर्म करता है—ऐसे मनुष्य के सारे कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् उनका कोई फल नहीं होता।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२४॥

दूसरे योगी लोग देव पूजन× (अग्नि, जल, वायु आदि देवताओं की उपासना) रूपी यज्ञ को ही करते हैं और कोई दूसरे ब्रह्म रूपी अग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ को हवन करते हैं अर्थात् अपने यज्ञ का फल भी भगवान के ही अर्पण कर देते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२५॥

अन्य योगी लोग श्रोत्र (कान) आदि इन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में होम देते हैं अर्थात् इन्द्रियों पर संयम कर लेते हैं। दूसरे योगी जन शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रिय रूपी अग्नि में होम देते हैं अर्थात् इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियों में ही समाप्त कर देते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२६॥

दूसरे योगी लोग समस्त इन्द्रियों के कर्मों को तथा प्राणक्रिया (सांस का आना जाना) को ज्ञान द्वारा जलाई हुई आत्म संयम

×अग्नि, जल, वायु आदि की शुद्धि के निमित्त यज्ञ करना देव-पूजन कहलाता है।

रूपी योग की अग्नि में आहुति बनाकर डाल देते हैं अर्थात् आत्म संयम द्वारा समस्त इन्द्रियों के कर्मों को और श्वास प्रश्वास की क्रिया को रोक लेते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥१७॥

कोई द्रव्य यज्ञ को करते हैं अर्थात् धन द्वारा परोपकार के कार्य करते हैं, कोई तपस्या रूपी यज्ञ को करते हैं, कोई योगपालन रूपी यज्ञ को करते हैं, कोई कठोर व्रतों का पालन करने वाले यती लोग स्वाध्याय (वेद शास्त्रों का अध्ययन) तथा ज्ञानरूपी यज्ञ को करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥१८॥

कोई योगी अपानवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं और कोई योगी लोग प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं तथा कोई योगी प्राणवायु तथा अपानवायु दोनों की गति को रोककर प्राणायाम में तत्पर होते हैं।×

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥१९॥

दूसरे नियमित भोजन करने वाले योगी लोग प्राणवायु का प्राणवायु में ही हवन करते हैं। यह सब के सब योगी जिनका पाप यज्ञद्वारा नष्ट होगया है—यज्ञ के तत्व को जानने वाले हैं।

×श्वास के साथ अन्दर खींची जाने वाली वायु को प्राणवायु तथा बाहर फेंकी जाने वाली वायु को अपान वायु कहते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥२०॥

यज्ञ का अमृतरूपी बचा हुआ भाग खाने वाले लोग सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । हे कुरुकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिये इस लोक में कोई स्थान नहीं है, दूसरे लोक में तो कहां होगा ।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥२१॥

इस प्रकार वेद की वाणी द्वारा बहुत प्रकार के यज्ञों का विस्तार किया गया है । इन सब यज्ञों को कर्म से उत्पन्न होने वाला जान अर्थात् यज्ञ का होना कर्म पर निर्भर करता है । ऐसा जानकर दुःखों से छूट जायेगा ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥२२॥

हे शत्रु को संताप देने वाले, द्रव्ययज्ञ (धन या पदार्थों द्वारा किया हुआ यज्ञ) की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि समस्त कर्मों की समाप्ति ज्ञान में ही होती है अर्थात् ज्ञान द्वारा ही सब कर्म सिद्ध होते हैं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥२३॥

प्रणिपात (दण्डवत, नमस्कार, प्रणाम) द्वारा, प्रश्नों के द्वारा तथा सेवा के द्वारा उस ज्ञान को जान । तत्व को जाननेवाले ज्ञानी पुरुष तुझको ज्ञान का उपदेश करेंगे । कहने का मतलब यह कि ज्ञानियों को

प्रणाम नमस्कार आदि करके, उनकी सेवा करके तथा उनसे प्रश्नोत्तर करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि २४॥

यदि सब पापियों से भी बढ़कर पाप करने वाला है तो भी ज्ञान-रूपी नौका में बैठकर सब पापों से पार उतर जायेगा।×

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥२५॥

हे अर्जुन, जिस प्रकार सुलगी हुई आग ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥२६॥

ज्ञान के समान पवित्र इस लोक में दूसरी कोई चीज नहीं है। वह पुरुष जिसने योग को सिद्ध कर लिया है—समय आने पर उस ज्ञान को स्वयं ही अपनी आत्मा में प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥२७॥

ज्ञान प्राप्ति में तत्पर, श्रद्धा से युक्त, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके बहुत शीघ्र परमशान्ति को प्राप्त करता है।

×ज्ञान मनुष्य को पापों का फल भोगने की शक्ति देता है तथा भविष्य में पाप करने से बचाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥२८॥

अज्ञानी, श्रद्धारहित तथा मन में संशय रखने वाला पुरुष नष्ट हो जाता है। मन में संशय रखने वाले पुरुष के लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥२९॥

हे अर्जुन, निष्काम कर्मयोग द्वारा जो फल की कामना को छोड़कर कर्म करता है, ज्ञान द्वारा जिसके सारे संशय नष्ट हो गये हैं तथा जो आत्मसंयमी है–ऐसे पुरुष को कर्म नहीं बांधते अर्थात् वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥३०॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन, अज्ञान से पैदा होने वाले, हृदय में ठहरे हुये अपने इस संशय को ज्ञान की तलवार से काटकर कर्मयोग में स्थित हो और युद्ध के लिये उठ।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोला कि हे कृष्ण, आप पहले कर्मों से संन्यास लेने की और फिर निष्काम कर्म योग की प्रशंसा करते हो। इन दोनों में से जो एक निश्चित रूप से कल्याण का करने वाला हो, वह मुझसे कहो।

श्रीकृष्ण उवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्री कृष्ण बोले कि संन्यास और निष्काम कर्मयोग दोनों ही कल्याण के करने वाले हैं। इन दोनों में से भी कर्मों से संन्यास लेने की अपेक्षा निष्काम कर्म योग अधिक श्रेष्ठ है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३

जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी चीज की इच्छा करता है उसको हमेशा संन्यासी समझना चाहिये। हे महाबाहु, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों (जोड़ों) से रहित पुरुष आसानी से संसाररूपी बन्धन से छूट जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४

बालक अर्थात् ना समझ लोग संन्यास और निष्काम कर्मयोग को अलग अलग कहते हैं, पण्डित नहीं। एक का भी अच्छी प्रकार पालन करने वाला पुरुष दोनों ही का फल प्राप्त करता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५

जो स्थान संन्यास के द्वारा प्राप्त होता है, निष्काम कर्म योग के द्वारा भी वही प्राप्त होता है। जो पुरुष संन्यास और निष्काम कर्म-योग को एक देखता है वही वास्तव में देखता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६

हे महाबाहु, बिना निष्काम कर्मयोग के संन्यास का प्राप्त होना कठिन है। निष्काम कर्मयोग से युक्त मुनि (मननशील पुरुष) शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७

जिसका मन शुद्ध है, जिसने अपने आप पर विजय प्राप्त करली है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है तथा जो समस्त प्राणियों की आत्मा के समान आत्मा वाला बन गया है अर्थात् जो अपनी आत्मा के समान सबकी आत्मा को देखता है--ऐसा निष्काम कर्मयोग से युक्त पुरुष सब कुछ करता हुआ भी कर्मों में लिप्त नहीं होता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९

यह समझकर कि इन्द्रियां अपने विषयों में अपना काम कर रही हैं तत्व को जानने वाला योगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सुंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, सांस लेता हुआ,

बोलता हुआ, मलमूत्र त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आंखें खोलता और बन्द करता हुआ भी "मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ" ऐसा माने।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १०

जो मनुष्य आसक्ति को छोड़कर अपने सब कर्म परमात्मा को सौंप कर कर्म करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार पानी में रहता हुआ कमल का पत्ता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

योगी लोग आसक्ति को त्याग कर शरीर से, मन से, बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से भी अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२

योगी पुरुष कर्मों के फल की कामना को त्याग कर परम शान्ति को प्राप्त करता है और सकाम भाव से कर्म करने वाला फल में आसक्ति रखने के कारण कामनाओं द्वारा बन्धन में पड़ जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३

सब कर्मों का मन से त्याग करके आत्मसंयमी पुरुष न स्वयं कुछ करता हुआ और न किसी से कुछ करवाता हुआ इस नौ दर्वाजों वाले शरीर रूपी नगर में सुखपूर्वक रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४

परमात्मा प्राणियों में न कर्तापन पैदा करता है और न उनके कर्मों तथा कर्मफलों के संयोग की रचना करता है बल्कि यह चीजें स्वभाव के अनुसार होती रहती है अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसको वैसा फल मिलता रहता है।×

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५

व्यापक परमात्मा न किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को। अज्ञान द्वारा ज्ञान ढका हुआ है जिससे प्राणी मोहित हो रहे हैं अर्थात् प्राणी अपने अज्ञान वश ऐसा समझते हैं कि परमात्मा हमारे पाप पुण्यों को ग्रहण करता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६

परन्तु जिनका वह अज्ञान ज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है—उनका ज्ञान सूर्य के समान उस परमात्मा को प्रकाशित करता है अर्थात् वह अपने ज्ञान की रौशनी में परमात्मा को देखते हैं।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७

उसी में (परमात्मा में) अपने मन और बुद्धि को लगाये हुये, उसी में पूर्ण श्रद्धा रखते हुये, उसी की प्राप्ति में लगे हुये वह लोग जिनके

×यदि परमात्मा प्राणियों के कर्मों तथा उनके कर्मफलों को पहले से ही नियत करदे तो जीव कर्म करने में स्वतन्त्र न रहे।

पाप ज्ञान द्वारा नष्ट हो गये हैं—उस स्थान को प्राप्त करते हैं जहाँ से फिर वापसी नहीं होती अर्थात् मोक्ष को हासिल करते हैं ।+

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८

विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल इन सब में पण्डित लोग समदृष्टि रखते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में यह सब बराबर हैं ।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९

जिनका मन साम्यभाव में स्थित होगया अर्थात् जिनको यह समता की दृष्टि प्राप्त होगई उन्होंने इस जीवन में ही इस संसार को जीत लिया । परमात्मा निर्दोष और सबको समान दृष्टि से देखने वाले हैं इसलिये जिनको यह समता की दृष्टि प्राप्त है उनको भी परमात्मा में ही स्थित समझना चाहिये ।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २०

जो प्रिय लगने वाली चीज को पाकर प्रसन्न न हो और अप्रिय चीज को पाकर दुःखित न हो, वह स्थिरबुद्धि, भ्रान्ति से रहित ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म में ठहरा हुआ है- ऐसा जानना चाहिये ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१

बाहर के (सांसारिक) विषय भोगों में जिसका मन आसक्त नहीं है

+कई आचार्य मोक्ष से वापसी मानते हैं और कई नहीं मानते । आर्यसमाज मोक्ष से वापसी मानता है ।

वह पुरुष अपनी आत्मा में जो अपूर्व सुख है उसको प्राप्त करता है। वह ब्रह्मरूपी योग में अपनी आत्मा को लगाने वाला कभी नाश न होने वाले आनन्द को प्राप्त करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२

जो इन्द्रियों तथा विषयों के संसर्ग से पैदा होने वाले भोग हैं वह दुःखों की उत्पत्ति का ही कारण हैं तथा आदि और अन्त वाले अर्थात् नाशवान हैं, बुद्धिमान पुरुष उनमें आसक्त नहीं होता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३

जो पुरुष शरीर छोड़ने से पहले इस लोक में ही काम तथा क्रोध से पैदा होने वाले वेग को सहन करने के योग्य होजाता है अर्थात् इन पर विजय प्राप्त कर लेता है वह योगी है और वही सुखी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४

जो अपनी आत्मा में ही सुखी है तथा अपने अन्दर ही आनन्द प्राप्त करता है और जिसको अपनी आत्मा में ही प्रकाश मिलता है— वह योगी ब्रह्म के ध्यान में डूबा हुआ ब्रह्मरूपी निर्वाण (मोक्ष, शान्ति) को प्राप्त करता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ॥ २५

जिनके पाप क्षीण होगए हैं, जिनके संशय नष्ट हो गए हैं, जिन्होंने

अपनी आत्मा को वश में किया हुआ है—ऐसे समस्त प्राणियों के हित में लगे हुए ऋषि लोग ब्रह्म रूपी निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६

जो काम और क्रोध से पृथक हो गये हैं, जिन्होंने अपने चित्त को जीत लिया है तथा अपनी आत्मा के स्वरूप को जान लिया है—ऐसे यती (प्रयत्नशील) पुरुषों को सब ओर से ब्रह्मरूपी निर्वाण (मोक्ष, शान्ति) प्राप्त है अर्थात् उनको हर जगह ब्रह्म की प्राप्ति है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरेभ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७

बाहरी विषय भोगों को बाहर ही छोड़कर, अपनी दृष्टि को भवों के मध्य में स्थिर करके, नाक के अन्दर भ्रमण करने वाले प्राण तथा अपान वायु को समान करके।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८

मन बुद्धि और इन्द्रियों को वश में किए हुए, इच्छा भय और क्रोध से रहित जो मोक्ष की प्राप्ति में तत्पर मुनि (मननशील व्यक्ति) है—वह सदा ही मुक्त है।

छटा अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

श्रीकृष्ण बोले कि जो पुरुष कर्मों के फल का आश्रय न लेकर केवल योग्य (शास्त्र विहित) कर्म करता है वह संन्यासी है और योगी है। अग्निहोत्र का त्याग करने वाला और कर्मों का त्याग करने वाला संन्यासी और योगी नहीं है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डुपुत्र, जिसे संन्यास कहकर पुकारा जाता है उसी को योग जान क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई पुरुष योगी नहीं होता अर्थात् बिना संकल्पों का त्याग किये कोई योगी नहीं बन सकता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

कर्मयोग पर आरूढ़ होने (कर्मयोग की मंज़िल पर पहुँचने) की इच्छा रखने वाले मुनि के लिये कर्म को कारण (साधन) कहा है अर्थात् निष्काम कर्म द्वारा मनुष्य योगारूढ़ हो सकता है और उसी योगारूढ़ (योग की मंज़िल पर पहुंचे हुए) व्यक्ति के लिये शम (कर्मों के त्याग से प्राप्त होने वाली शान्ति) को कारण (मोक्ष प्राप्ति का) बताया गया है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जब न इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है और न ही कर्मों में आसक्त होता है तब समस्त संकल्पों का त्याग करने वाले उस पुरुष को योगारूढ़ (योग की मंज़िल पर पहुँचा हुआ) कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

अपने द्वारा ही अपनी आत्मा का उद्धार करे तथा अपनी आत्मा का कभी पतन न करे। आत्मा आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिस आत्मा ने अपने आपको (मन इन्द्रियों आदि को) जीत लिया है वह आत्मा आप अपना मित्र है और जिस आत्मा ने अपने आपको नहीं जीता है वह शत्रु के समान आप अपने से शत्रुता का वर्ताव कर रहा है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

आत्म संयमी तथा शान्त (जिसने अपनी कामनाओं को शान्त कर लिया है) पुरुष का महान आत्मा सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख तथा मान और अपमान में समाहित (शान्त, स्वस्थ) रहता है अर्थात् इन चीजों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥८॥

ज्ञान (सांसारिक पदार्थों का ज्ञान) और विज्ञान (आत्मा और परमात्मा का ज्ञान) से जिसकी आत्मा तृप्त है, जो कूटस्थ (निर्विकार) है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली है, जिसकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना बराबर हैं—ऐसे योगी को युक्त (परमात्मा में लगा हुआ) कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अच्छे हृदय वाला अर्थात् प्रेम रखनेवाला, मित्र, शत्रु, उदासीन (निष्पक्ष), मध्यस्थ (बीच में पड़कर फैसला कराने वाला), द्वेष रखने योग्य, सम्बन्धी तथा साधु (धर्मात्मा) और पापी—इन सबमें समबुद्धि रखने वाला अर्थात् इन सबको समान समझने वाला विशिष्ट (श्रेष्ठ) है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

जिसने अपने मन और आत्मा को वश में किया हुआ है, जिसको कोई आशा नहीं तथा जिसने पदार्थों के संग्रह करने की मनोवृत्ति को छोड़ दिया है—ऐसा योगी अकेला एकान्त स्थान में रहता हुआ निरन्तर अपनी आत्मा को परमात्मा में लगावे।

शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

जो न बहुत ऊंचा हो और न बहुत नीचा हो, जिस पर उत्तरोत्तर कुशा, मृगछाला और कपड़ा (पहले कुशा, फिर मृगछाला और सबसे ऊपर कपड़ा) बिछे हुए हों—ऐसे अपने आसन की स्थिर रूप से पवित्र स्थान में स्थापना करके।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र (ध्यानावस्थित) करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को काबू में किये हुए अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए योग का आयोजन करे।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१३॥

हे अर्जुन, बहुत खाने वाले के लिये, बिल्कुल न खाने वाले के लिये तथा बहुत सोने वाले और बहुत जागने वाले के लिये यह योग नहीं है अर्थात् इन लोगों को योग की सिद्धि नहीं होती।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१४॥

जिसका आहार विहार नियमित है, जो कर्मों में नियमित चेष्टा करता है तथा जो नियमानुकूल सोना और जागता है—ऐसे पुरुष का योग दुःखों का नाश करने वाला होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१५॥

जब सुसंयत (अच्छी प्रकार वश में किया हुआ) चित्त आत्मा में ही स्थिर हो जाता है तब समस्त कामनाओं से निवृत्त उस पुरुष को युक्त अर्थात् योगी कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१६॥

जिस प्रकार बिना वायु के स्थान में रखा हुआ दीपक डांवाडोल नहीं होता वही उपमा योग में लगे हुए योगी के वश में किये हुए चित्त की कही गई है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥१७॥

जहां योगाभ्यास के द्वारा निरुद्ध (वश में किया हुआ) चित्त उपरम (शान्त, स्थिर) हो जाता है और जहां आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता हुआ आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥१८॥

जहां इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त न होने वाले तथा बुद्धि के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले महान सुख को जानता है अर्थात् उसका अनुभव करता है और जहां ठहरा हुआ यह पुरुष तत्व (वास्तविक सत्य) से चलायमान नहीं होता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥१९॥

जिस लाभ को प्राप्त करके फिर किसी दूसरे लाभ को उससे अधिक नहीं मानता और जिस अवस्था में ठहरा हुआ बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२०॥

दुःखों के संयोग से रहित उस अवस्था को योग समझना चाहिये। निश्चय के साथ तथा न उकताने वाले चित्त से उस योग का अनुष्ठान करना चाहिए।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२१॥

संकल्प से पैदा होने वाली समस्त कामनाओं को पूर्ण रूप से त्याग कर तथा मन के द्वारा ही इन्द्रियों के समूह को चारों ओर से वश में करके।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२२॥

धैर्यपूर्ण बुद्धि से धीरे-धीरे उपरम (विरक्त, शान्त) होता जावे और मन को आत्मा में स्थिर करके किसी प्रकार का भी चिन्तन न करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२३॥

यह चञ्चल और न ठहरने वाला मन जिधर-जिधर से बाहर निकले उधर-उधर से इसे रोक कर अपनी आत्मा के ही वश में लावे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२४॥

इस प्रकार से सदा अपनी आत्मा को योग में लगाता हुआ योगी पापरहित होकर ब्रह्म के संसर्ग से प्राप्त होने वाले महान आनन्द को सुखपूर्वक (बिना किसी कठिनता के) प्राप्त करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२५॥

योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब जगह समान दृष्टि रखने वाला योगी सब प्राणियों में अपने को और सब प्राणियों को अपने में देखता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥२६॥

हे अर्जुन, जो अपने सदृश सर्वत्र (सब प्राणियों में) सुख अथवा दुःख को समान भाव से देखता है अर्थात् दूसरों के सुख तथा दुःख

को अपने सुख दुःख के समान समझता है वह योगी अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है।

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥२७॥

अर्जुन बोला कि हे मधुसूदन, यह जो योग आपने साम्यभाव से (समता के दृष्टिकोण से) कहा है—इसकी स्थिति को मैं मन की चंचलता के कारण स्थिर रहने वाला नहीं समझता अर्थात् मन के चंचल होने के कारण यह योग की अवस्था बहुत देर तक ठहरने वाली नहीं है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥२८॥

हे कृष्ण, मन चंचल, मथन करने वाला, बलवान और दृढ़ है। उसका वश में करना मैं वायु को वश में करने के समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

श्रीकृष्ण उवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥२९॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे महाबाहु, निस्संदेह मन बड़ी मुश्किल से वश (क़ाबू) में आने वाला तथा चंचल है परन्तु हे कुन्तीपुत्र, अभ्यास (बार बार प्रयत्न करना) और वैराग्य के द्वारा इस पर क़ाबू पाया जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३०॥

जिसका आत्मा वश में नहीं है—ऐसे पुरुष को योग का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है—ऐसा मेरा मत है परन्तु प्रयत्न करने वाले आत्मसंयमी पुरुष को उपायों द्वारा यह प्राप्त हो सकता है।

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३१॥

अर्जुन बोला कि हे कृष्ण, पूर्ण यत्न न करने वाला तथा योग से विचलित चित्त वाला श्रद्धायुक्त (योग में श्रद्धा रखने वाला) पुरुष योग की सिद्धि को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३२॥

हे महाबाहु, ब्रह्म के मार्ग से भटका हुआ वह आश्रयहीन पुरुष लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होकर कहीं फटे हुये बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३३॥

हे कृष्ण, मेरे इस संशय को पूर्णरूप से छेदन करने में आप समर्थ हैं क्योंकि आपके अतिरिक्त इस संशय को दूर करने वाला दूसरा कोई उपलब्ध (प्राप्त) नहीं हो सकता।

श्रीकृष्ण उवाच —

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥३४॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे अर्जुन, उस (योगभ्रष्ट) पुरुष का न इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है क्योंकि हे तात, कोई भी अच्छे कर्म करने वाला पुरुष कभी बुरी गति को प्राप्त नहीं होता ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥३५॥

योगभ्रष्ट पुरुष शुभकर्म करने वाले मनुष्यों के लोकों को प्राप्त करके बहुत वर्षों तक वहाँ रहकर पवित्र श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥३६॥

या बुद्धिमान योगियों के कुल में पैदा होता है । इस प्रकार का यह जन्म निश्चय ही संसार में अत्यन्त दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥३७॥

हे कुरुनन्दन, वहाँ उसे वह पूर्वजन्म का बुद्धिसंयोग (बुद्धि का संस्कार) प्राप्त हो जाता है—उसके कारण वह फिर योग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥३८॥

विषय भोगों के वश में होता हुआ भी वह उसी पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण योग की ओर खींचा जाता है। योग का जिज्ञासु भी शब्दज्ञान को पार कर जाता है अर्थात् उससे आगे निकल कर प्रत्यक्षज्ञान का अनुभव करने लगता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥३६॥

प्रयत्नपूर्वक योगसाधन करता हुआ वह योगी पापों से रहित होकर अनेक जन्मों में सिद्धि को प्राप्त करके अन्त में परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४०॥

तपस्वियों से योगी बढ़कर है, ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ माना गया है, कर्म करने वालों से भी योगी का दर्जा बड़ा है इसलिये हे अर्जुन, तू योगी हो।

सातवाँ अध्याय

इस अध्याय में तथा आगामी अध्यायों में श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने बार बार अपने को ईश्वर कहा है। इसका अभिप्राय यही समझना चाहिये कि वह अर्जुन को ईश्वर का स्वरूप अच्छी प्रकार समझाने के लिये स्वयं ईश्वर का पार्ट अदा कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण उवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे अर्जुन, मुझमें आसक्त मन वाला तथा मेरा आश्रय लेकर योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार सन्देहरहित होकर पूर्णरूप से मुझको जानेगा, उसको सुन।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

मैं इस ज्ञान को विज्ञान (परमात्मा का ज्ञान) सहित पूर्णरूप से तेरे प्रति कहूँगा जिसको जानकर फिर इस संसार में और कुछ जानने के काबिल बाकी नहीं रहता।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में से कोई सिद्धि के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वाले सिद्ध पुरुषों में भी कोई बिरला ही मुझको तत्व से (यथार्थरूप में) जानता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार-- इस प्रकार मेरी यह प्रकृति आठ भागों में बंटी हुई है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

मेरी यह आठ भागों में बंटी हुई प्रकृति अपरा (नीचे दर्जे की) कहलाती है और इसके अतिरिक्त हे महाबाहु, मेरी दूसरी जीवरूप प्रकृति जो इस सारे संसार को धारण करती है--उसको परा (श्रेष्ठ) जान।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

इन दोनों प्रकृतियों को सब प्राणियों की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान जान और मैं सारे जगत की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण (निमित्त कारण×) हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय (धन को जीतने वाला) मुझसे अधिक श्रेष्ठ और कोई दूसरी चीज नहीं है। मुझमें यह सारा जगत उसी प्रकार पिरोया हुआ है जिस प्रकार धागे में मणियां।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कुन्तीपुत्र, मैं जल में रस हूँ, चन्द्र और सूर्य में प्रकाश हूँ, सब वेदों में प्रणव अर्थात् ओंकार हूँ, आकाश में शब्द हूँ और पुरुषों में उनका पौरुष (पराक्रम, साहस, मर्दानगी) हूँ।

×नोटः—कारण तीन प्रकार के होते हैं—एक उपादान कारण, दूसरा निमित्त कारण, तीसरा साधारण कारण। उपादान कारण उसको कहते हैं जिससे कोई चीज बनाई जावे जैसे मिट्टी से घड़ा और निमित्त कारण उसको कहते हैं जो किसी चीज को बनावे जैसे कुम्हार घड़े का निमित्त कारण है। साधारण कारण उसको कहते हैं जो किसी चीज के बनाने में साधन हो जैसे घड़े को बनाने में दण्ड चक्र आदि। प्रकृति जगत का उपादान कारण है और परमात्मा जगत का निमित्त कारण है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथिवी में उसकी पवित्र गन्ध हूँ, अग्नि में तेज हूँ, समस्त प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ, मुझको समस्त प्राणियों का सनातन कारण (निमित्त कारण) जान । बुद्धिमानों में मैं उनकी बुद्धि हूँ और तेजस्वियों में उनका तेज हूँ ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, मैं बलवानों में उनका कामना और अनुराग से रहित बल हूँ और प्राणियों में उनका धर्म से विरोध न रखने वाला काम हूँ ।

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

और जो सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव हैं उनको भी मेरे से ही जान अर्थात् मैं उनका प्रकाश करने वाला हूँ लेकिन मैं उन भावों में नहीं हूँ और न वह मुझ में हैं ।×

×नोटः—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—यह तीनों प्रकृति के गुण हैं, परमात्मा के नहीं हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

प्रकृति के इन तीनों गुणों (सत्व, रज, तम) से उत्पन्न होने वाले भावों से यह सारा जगत मोहित हो रहा है। इसी कारण इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी यह तीन गुण (सत्व, रज, तम) वाली माया (प्रकृति) अद्भुत तथा मुश्किल से पार पाई जाने वाली है अर्थात् इसका पार पाना कठिन है। जो मेरी ही शरण में आते हैं वह इस माया (प्रकृति) को पार कर जाते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

माया (प्रकृति) ने जिनका ज्ञान हर लिया है—ऐसे, राक्षसी भावों का आश्रय लिये हुये, मनुष्यों में नीच, बुरे कर्म करने वाले, मूढ़ पुरुष मेरी शरण में नहीं आते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, अच्छे कर्म करने वाले चार प्रकार के भक्त—आर्त (विपत्तिग्रस्त), जिज्ञासु (जानने की इच्छा रखने वाले) अर्थार्थी (द्रव्य आदि सांसारिक पदार्थों को चाहने वाले) तथा ज्ञानी मेरे को भजते हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें, हमेशा अपने को मुझमें लगाये रखने वाला, केवल मुझमें ही भक्ति रखने वाला ज्ञानी भक्त, श्रेष्ठ है क्योंकि मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्यारा हूँ और वह भी मुझको प्यारा है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

यह सारे ही भक्त उदार (अच्छे) हैं किन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह युक्तात्मा (मुझमें अपनी आत्मा को लगाने वाला) मेरे में ही, जो समस्त प्राणियों की सर्वश्रेष्ठ गति है, ठहरा हुआ है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥१९॥

नाना प्रकार की कामनाओं से जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है—ऐसे वह लोग अपनी प्रकृति (स्वभाव) से मजबूर होकर उस उस नियम को ग्रहण करके (जो जो जिस देवता के पूजन के लिये आवश्यक हैं) अन्य देवताओं की उपासना करते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्तिमामपि ॥२०॥

उन अल्पबुद्धि (थोड़ी बुद्धि वाले) पुरुषों का वह फल भी अन्त-वाला अर्थात् नाशवान होता है। देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त करते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२१॥

मेरे अनुत्तम (जिससे उत्तम और कोई नहीं) तथा अविनाशी परमभाव (महान सत्ता) को न जानते हुये निर्बुद्धि लोग मुझ अव्यक्त (न दिखाई देने वाले) परमात्मा को व्यक्तिरूप (मनुष्यरूप) में आया हुआ मानते हैं ।×

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२२॥

अपनी योगमाया (प्रकृति) से ढका हुआ मैं सबको नज़र नहीं आता अर्थात् जब तक मनुष्य की बुद्धि पर प्रकृति का आवरण पड़ा हुआ है तबतक वह मुझको नहीं देख सकता । यह मूर्ख प्राणी मुझ अजन्मा (जिसका कभी जन्म नहीं होता) तथा अविनाशी (जिसका कभी नाश नहीं होता) को नहीं जानता ।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२३॥

हे अर्जुन, मैं भूतकाल में गुजरे हुये, वर्तमान काल में मौजूद तथा भविष्य में होने वाले सब प्राणियों को जानता हूँ परन्तु मुझको कोई नहीं जानता ।

इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२४॥

हे शत्रु को सन्ताप देने वाले भरतवंशी अर्जुन, इच्छा और द्वेष से पैदा होने वाले द्वन्द्वों (सुख, दुःख, हानि, लाभ, शीत, उष्ण आदि जोड़े) के मोह से सृष्टि में सब प्राणी अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं ।

×नोट:—इस श्लोक में अवतारवाद का स्पष्ट शब्दों में खंडन है ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२५॥

परन्तु जिन शुभ कर्म करने वाले मनुष्यों का पाप समाप्त (नष्ट) हो गया है—वह सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि द्वन्द्वों (जोड़ों) के मोह से छूटे हुये दृढ़व्रती (दृढ़तापूर्वक व्रतों का पालन करने वाले) मुझको भजते हैं ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२६॥

बुढ़ापे और मौत से छूटने के लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं वह लोग उस ब्रह्म को, समस्त अध्यात्म (आत्मविद्या) को तथा सम्पूर्ण कर्मों को (सारी कर्म फिलास्फी को) जानते हैं ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥२७॥

जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ× सहित मुझको जानते हैं वह युक्तचित्त वाले (योगी) पुरुष मरने के समय में भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् मेरा ही ध्यान करते हैं ।

आठवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

×नोटः—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ शब्दों की व्याख्या आठवें अध्याय में की गई है ।

अर्जुन बोला कि हे पुरुषश्रेष्ठ, वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत किसे कहा है और अधिदैव किसको कहा जाता है।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन, यहाँ इस शरीर में अधियज्ञ कौन है और कैसे है और अन्तकाल में आत्मसंयमी पुरुषों द्वारा आप क्योंकर जाने जाते हो।

श्रीकृष्ण उवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्रीकृष्ण बोले, परम अविनाशी (जिसका कभी नाश नहीं होता) ब्रह्म है तथा अपनी सत्ता (आत्मा) को अध्यात्म कहा जाता है। प्राणियों के भाव को उत्पन्न करने वाला जो व्यवहार है वह कर्म कहलाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

सारे नाशवान पदार्थ अधिभूत हैं और पुरुष (जीव) अधिदैव है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन, इस शरीर में ही अधियज्ञ हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्तकाल में जो पुरुष मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़-

कर जाता है वह मेरे भाव को अर्थात् मुझको प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे कुन्तीपुत्र, जिस जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्तकाल में शरीर को छोड़ता है उसी भाव के चिन्तन में सदा रहने के कारण उस उस भाव को ही प्राप्त करता है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥७॥

हे अर्जुन, अभ्यास योग में लगे हुये किसी दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से परमात्मा का चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य (प्रकाशमान) परम पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त करता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥८॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥९॥

जो मनुष्य अन्तकाल में भक्ति से युक्त होकर तथा योगबल के द्वारा अपने प्राणों को भवों के मध्य में भली प्रकार ठहरा कर सर्वज्ञ, सनातन,

सब पर शासन करने वाले, अणु से भी अति सूक्ष्म, सबको धारण करने वाले, अचिन्त्यरूप (जिसके रूप का चिन्तन न किया जा सके), अविद्यारूपी अन्धकार से दूर, सूर्य के समान प्रकाशमान ईश्वर का अचल मन से स्मरण करता है वह उस दिव्य (प्रकाशमान) परम पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त करता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥१०॥

वेद के जानने वाले जिसे अक्षर (ओंकार) कहते हैं; जिसमें राग रहित योगी लोग प्रवेश करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा करते हुये ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते हैं—उस पद को तेरे प्रति संक्षिप्त रूप से कहूँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥११॥

समस्त द्वारों अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके और मन को हृदय में रोककर और अपने प्राणों को मस्तक में टिकाकर योगाभ्यास में ठहरा हुआ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१२॥

जो व्यक्ति ॐ ऐसे इस एक अक्षर रूपी ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़कर जाता है वह परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१३॥

हे अर्जुन, जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर (किसी दूसरी ओर चित्त न रखकर) हमेशा ही लगातार मेरा स्मरण करता है—उस नित्य-युक्त (सदा ही मुझमें लगे हुये) योगी को मैं आसानी से प्राप्त हूँ ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१४॥

जो लोग हजार चतुर्युगियों तक के ब्रह्मा के एक दिन को और हजार चतुर्युगियों तक अन्त होने वाली ब्रह्मा की एक रात्रि को जानते हैं वह दिन और रात के तत्व को जानने वाले हैं ।×

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१५॥

समस्त दिखाई देने वाले प्राणी ब्रह्मा के दिन के निकलने पर अर्थात् सृष्टि के उत्पन्न होने के समय अव्यक्त (प्रकृति) से पैदा होते हैं और रात्रि के आने पर अर्थात् प्रलय होने पर उसी अव्यक्त (प्रकृति) में समा जाते हैं ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१६॥

हे अर्जुन, वही यह प्राणियों का समूह पैदा हो होकर ब्रह्मरात्रि के आने पर बेबस हुआ हुआ प्रकृति में लीन हो जाता है और ब्रह्म-

---

×नोटः—सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर सृष्टि के कायम रहने तक के काल को ब्रह्मा का एक दिन और प्रलयकाल को ब्रह्मा की एक रात्रि कहते हैं ।

दिन के निकलने पर अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का समय आने पर फिर पैदा हो जाता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥१७॥

परन्तु उस अव्यक्त (प्रकृति) से भी परे जो एक और न दिखाई देने वाला अनादि भाव (परमात्मा) है वह समस्त प्राणियों का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥१८॥

हे अर्जुन, जिसके अन्दर समस्त भूतप्राणी ठहरे हुये हैं और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है वह परम पुरुष (परमात्मा) अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥१९॥

वेदों के पढ़ने, यज्ञ करने, तप करने तथा दान देने का जो शुभ फल बताया गया है—योगी पुरुष इस तत्व को जानकर उन सब फलों से आगे निकल जाता है और सर्व प्रधान परम पद को प्राप्त करता है।

★

नवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले, तुझ दोष न देखने वाले के प्रति मैं इस अत्यन्त गोपनीय (गुप्त रखने योग्य) ज्ञान को विज्ञान (परमात्मा का ज्ञान) सहित कहूँगा जिसको जान कर तू दुःखों से छूट जायगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

यह ज्ञान समस्त विद्याओं का राजा, सब गोपनीय (गुप्त रखने योग्य) रहस्यों का राजा, पवित्र, श्रेष्ठ, प्रत्यक्ष जाना जाने वाला, धर्म से युक्त, करने में अत्यन्त सुगम तथा कभी नष्ट न होने वाला है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे शत्रु को संताप देने वाले, इस धर्म (ज्ञान) में श्रद्धा न रखने वाले पुरुष मुझको प्राप्त न करके मृत्यु रूपी संसार के मार्ग पर वापिस लौटते हैं अर्थात् जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मुझ अव्यक्तमूर्ति (जिसकी कोई नजर आने वाली मूर्ति न हो) ब्रह्म से यह सारा जगत व्याप्त है। सारे प्राणी मेरे अन्दर ठहरे हुये हैं, मैं उनमें ठहरा हुआ नहीं हूँ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥५॥

जिस प्रकार सब जगह विचरने वाली महान वायु हमेशा आकाश में रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणी मेरे अन्दर स्थित हैं—ऐसा जान।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥६॥

हे कुन्तीपुत्र, सृष्टि का अन्त अर्थात् प्रलय होने पर समस्त प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् उसमें लीन हो जाते हैं और सृष्टि का आरम्भ होने पर मैं पुनः उनको उस प्रकृति से उत्पन्न करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥७॥

इस सम्पूर्ण प्राणियों के समूह को जो प्रकृति के वश में होने के कारण बेबस है—मैं बार बार अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर उत्पन्न करता हूँ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ८ ॥

हे धनंजय, उन कर्मों में उदासीन (तटस्थ, निस्स्वार्थ, निरपेक्ष) के समान स्थित होने तथा आसक्त न होने के कारण वह सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय रूपी कर्म मुझको नहीं बांधते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ९ ॥

हे कुन्तीपुत्र, मेरी अध्यक्षता (निरीक्षण) में प्रकृति चर (चलने वाले जैसे मनुष्य, पशु आदि) तथा अचर (न चलने वाले जैसे वृक्ष, पर्वत आदि) सहित सारे संसार को उत्पन्न करती है और इसी कारण से यह संसार चक्र घूमता रहता है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१०॥

निष्फल आशा, निष्फल कर्म तथा निष्फल ज्ञान वाले अज्ञानी पुरुष राक्षसों तथा असुरों की मोहित करने वाली (भ्रम में डालनेवाली) प्रकृति (स्वभाव) का ही आश्रय लिये हुये हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥११॥

परन्तु हे अर्जुन, महात्मा पुरुष दैवी प्रकृति (देवताओं का स्वभाव) का आश्रय लिये हुये मुझको अविनाशी तथा प्राणियों का आदिकारण जानकर अनन्य मन से भजते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१२॥

दृढ़ता पूर्वक व्रतों का पालन करने वाले, मेरी प्राप्ति के निमित्त यत्न करते हुये तथा निरन्तर मेरे गुणों का कीर्तन करते हुये और मुझ को नमस्कार करते हुये, सदा अपने को मुझमें लगाये हुये भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१३॥

दूसरे ज्ञानयज्ञ से भजन करते हुये तथा मुझमें एकता का भाव रखते हुये और कोई दूसरे मुझको अपने से पृथक समझते हुये नाना प्रकार से मुझ विश्वतोमुख (सब ओर जिसका मुख हो) परमात्मा की उपासना करते हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१४॥

मैं इस जगत का माता, पिता, पितामह (दादा) तथा धारण करने वाला हूँ। जानने के योग्य, पवित्र, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१५॥

प्राप्त करने योग्य, भरण पोषण करने वाला, स्वामी, सब कुछ देखने वाला, निवासस्थान, शरण देने वाला. मित्र, उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण, मोक्ष का स्थान, आनन्द तथा सुख का निधान तथा अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१६॥

मैं ही (सूर्यरूप में) तपता हूँ, मैं ही वर्षा को ग्रहण करता और बरसाता हूँ और हे अर्जुन, अमृत, मृत्यु, सत तथा असत भी मैं ही हूँ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥१७॥

जो अनन्यभाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं

अनित्ययुक्त (सदा ही अपने को मुझमें लगाये रखने वाले) पुरुषों को योग (भगवत्प्राप्ति) तथा क्षेम (कल्याण) मैं स्वयं प्राप्त कराता हूँ।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥१८॥

देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को, पितरों (माता पिता आदि) का पूजन करने वाले पितरों को, प्राणियों का पूजन करने वाले प्राणियों को तथा मेरा पूजन करने वाले मुझको ही प्राप्त होते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥१९॥

हे कुन्तीपुत्र, तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो यज्ञ करता है, जो दान देता है जो तप करता है—वह सब मेरे अर्पण कर अर्थात् इन सब कर्मों का फल मेरे ऊपर छोड़ दे।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२०॥

इस प्रकार करने से संन्यासयोग से युक्त आत्मा वाला तू अच्छे बुरे फल रूपी कर्मबन्धन से छूट जायगा और इस बन्धन से छूटा हुआ मुझको प्राप्त करेगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२१॥

मैं सब प्राणियों में समान हूँ, न मुझे किसी से द्वेष है, न कोई मेरा प्यारा है परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं वह मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥२२॥

यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भजन करता है तो उसको भी साधु (श्रेष्ठ) ही मानना चाहिये क्योंकि वह ठीक निश्चय वाला है ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥२३॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत (हमेशा क़ायम रहने वाली) शान्ति प्राप्त करता है। हे कुन्तीपुत्र, इस बात को निश्चिय रूप से जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥२४॥

मुझमें मन लगाने वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर, मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार अपनी आत्मा को योग में लगाकर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर हुआ मुझको ही प्राप्त करेगा ।

———

दशवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे महाबाहु, फिर मेरे उत्तम वचनों को सुन जो मैं तुझ प्रेम रखने वाले के लिये हित की कामना से कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरे प्रभाव को न देवता जानते हैं और न महर्षि जानते हैं क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का सब प्रकार से आदिकारण हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझको अजन्मा (जिसका कभी जन्म न हो), अनादि (जिसका कोई आदि न हो, कारणरहित) तथा समस्त लोकों का महान स्वामी जानता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान पुरुष सब पापों से छूट जाता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥४॥

मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, मुझसे ही सब कुछ प्रवृत्त होता है—ऐसा मानकर बुद्धिमान लोग श्रद्धा से युक्त होकर मेरा भजन करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥५॥

मुझमें चित्त लगाने वाले तथा अपना जीवन मेरे समर्पित करने वाले आपस में एक दूसरे को मेरा ज्ञान कराते हुये तथा सदा मेरी ही चर्चा करते हुये सन्तुष्ट होते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥६॥

निरन्तर योग में लगे हुए तथा प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करने वाले उन पुरुषों को मैं वह बुद्धि का संयोग देता हूँ जिससे वह मुझको प्राप्त करते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञान दीपेन भास्वता॥७॥

उन पर कृपा करने के लिये ही मैं उनके अन्तःकरण में ठहरा हुआ अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अन्धकार को ज्ञान के प्रकाशमान दीपक से नष्ट करता हूँ।

अर्जुन उवाच—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥८॥

अर्जुन बोला कि हे जनार्दन, अपनी योगशक्ति तथा विभूति (ऐश्वर्य, वैभव, महत्व) को फिर विस्तार से कहिये क्योंकि आपके अमृतपूर्ण वचनों को सुनकर मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् और सुनने को जी चाहता है।

श्रीकृष्ण उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥९॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे कुरुकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं अपनी विभूतियों को तेरे प्रति प्रधानता से (मुख्य रूप में) कहूँगा क्योंकि मेरे विस्तार का कोई अन्त नहीं है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥१०॥

हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन, मैं परमात्मा सब प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ हूँ तथा प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ अर्थात् उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का भी मैं ही कारण हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥११॥

हे अर्जुन, जो सब प्राणियों की उत्पत्ति का बीज (कारण) है वह भी मैं ही हूँ। कोई भी चर (चलने वाला) और अचर (न चलने वाला) ऐसा प्राणी नहीं है जो मेरे बगैर हो अर्थात् मैं सब में व्यापक हूँ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥१२॥

हे शत्रु को सन्ताप देने वाले, मेरी दिव्य विभूतियों (अद्भुत शक्तियों) का कोई अन्त नहीं है। यह तो अपनी विभूतियों की महानता मैंने संक्षिप्त रूप में कही है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥१३॥

जो जो भी विभूतियुक्त (ऐश्वर्यसम्पन्न, वैभवपूर्ण), कान्तिवान तथा शक्तिशाली पदार्थ है—उस उस को तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न होने वाला जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥१४॥

अथवा हे अर्जुन, इस बहुत जानने से तुझे क्या लाभ अर्थात् इस विषय में बहुत ज्यादा जानकर तू क्या करेगा। मैं इस सारे जगत को अपनी शक्ति के एक अंश से धारण करके ठहरा हुआ हूँ।

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोला, मुझपर कृपा करने के लिये जो अत्यन्त गोपनीय (गुप्त रखने के योग्य) अध्यात्म के नाम से पुकारा जाने वाला वचन (ज्ञान, उपदेश) आपने कहा—उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है।

श्रीकृष्ण उवाच—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे पाण्डुपुत्र, मेरे लिये कर्म करने वाला, मेरी प्राप्ति में तत्पर, मुझमें भक्ति रखने वाला, किसी भी चीज में आसक्ति न रखने वाला, समस्त प्राणियों में किसी से वैर न रखने वाला जो मनुष्य है—वह मुझको प्राप्त करता है।

———

बारहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले कि मुझमें मन को स्थापित करके, सदा अपने को मुझमें लगाये हुये जो लोग परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं वह मेरे विचार में सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥२॥

और जो मनुष्य समस्त कर्मों को मेरे अर्पण करके, मेरी प्राप्ति में तत्पर, अनन्य योग (भक्ति) से मेरा ध्यान करते हुये मेरी उपासना करते हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥३॥

हे अर्जुन, मुझमें चित्त लगाने वाले उन मनुष्यों का मैं बिना किसी विलम्ब के मृत्युरूपी संसार सागर से उद्धार करने वाला (निकालने वाला) होता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥४॥

मुझमें ही मन को लगा, मुझमें ही अपनी बुद्धि को स्थापित कर, इसके बाद तू मुझमें ही निवास करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

हे धनंजय, यदि तू अपने चित्त को मुझमें स्थिरभाव से लगाने में समर्थ नहीं है तो अभ्यास योग (बार बार प्रभु चिन्तन का प्रयत्न करना) के द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा कर।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि अभ्यासयोग में भी तू असमर्थ है तो मेरे लिये कर्म करने में तत्पर हो। मेरी प्राप्ति के लिये कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त करेगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यदि इसको भी करने की शक्ति तुझमें नहीं है तो मेरी प्राप्ति रूपी योग का आश्रय लेकर अपनी आत्मा को वश में किये हुये समस्त कर्मों के फल का त्याग कर।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

क्योंकि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है। त्याग से तत्काल शान्ति मिलती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१०॥

समस्त प्राणियों में किसी के साथ द्वेष न रखने वाला, सबका मित्र, दयालु, ममतारहित अर्थात् किसी चीज को अपनी न समझने वाला, अहंकार रहित, दुःख और सुख में समान, सहनशील, सदा सन्तुष्ट रहने वाला, योगी, मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाला, दृढ़ निश्चय वाला, मन और बुद्धि मेरे अर्पण करने वाला—ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझको प्यारा है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥११॥

जिससे कोई प्राणी उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं किसी प्राणी के द्वारा उद्वेग (भय, दुःख, परेशानी) को प्राप्त नहीं होता अर्थात् जो न किसी को सताता है और न स्वयं किसी के द्वारा सताया जाता है तथा जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या, क्रोध), भय तथा उद्वेग से मुक्त है—वह मुझको प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२॥

जिसको किसी चीज की अपेक्षा (आशा, अभिलाषा) नहीं, जिसका शरीर और मन पवित्र है, जो अपने उद्देश्य (ईश्वर) की प्राप्ति में चतुर है, जो सबमें उदासीन (निष्पक्ष, तटस्थ) है, जिसके दुःख दूर हो चुके हैं तथा जिसने सब उद्योग (सकाम कर्म) छोड़ दिये हैं—ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझको प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१३॥

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कोई इच्छा रखता है तथा जिसने अच्छे और बुरे सब प्रकार के कर्मों के फल का त्याग कर दिया है—ऐसा भक्ति रखने वाला पुरुष मुझको प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१४॥

शत्रु, मित्र तथा मान, अपमान में समान रहने वाला, गर्मी, सर्दी तथा सुख, दुःख को बराबर समझने वाला तथा आसक्तिरहित।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१५॥

निन्दा और प्रशंसा को एक जैसा समझने वाला, मौन रहने वाला अर्थात् मितभाषी, जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहने वाला, बेघर-बार (किसी भी स्थान को अपना घर न समझने वाला)—ऐसा स्थिरबुद्धि तथा भक्ति युक्त पुरुष मुझको प्यारा है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥१६॥

और जो श्रद्धायुक्त तथा मेरी प्राप्ति में तत्पर भक्त पुरुष ऊपर कहे हुये इस धर्मयुक्त अमृत (ज्ञानरूपी अमृत) का सेवन करते हैं—वह मुझको अत्यन्त प्रिय हैं।

———

तेरहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे कुन्तीपुत्र, यह शरीर क्षेत्र (खेत) है ऐसा कहा जाता है। इसको जो जानता है, उसको शरीर और आत्मा के तत्व को जानने वाले "क्षेत्रज्ञ" (क्षेत्र का जानने वाला) कहते हैं।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥२॥

वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिन विकारों (परिवर्तनों) वाला है और जिससे हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाव वाला है—वह सब मुझसे संक्षेप में सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥३॥

ऋषियों द्वारा (यह विषय) बहुत प्रकार से कहा गया है, विविध प्रकार के वेदमन्त्रों द्वारा भी इसका पृथकरूप में वर्णन किया गया है तथा ब्रह्मसूत्र (व्यासरचित) के निश्चित किये हुये युक्तिपूर्ण पदों के द्वारा भी इसकी व्याख्या की गई है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥४॥

पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी), अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त (मूलप्रकृति) तथा दश इन्द्रियां (आँख, नाक, कान, रसना और त्वचा पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा हाथ, पांव, लिंग, गुदा और वाक् पांच कर्मेन्द्रियां) और ग्यारहवां मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥५॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूलदेह, चेतनता, धारणाशक्ति—इस प्रकार से यह क्षेत्र संक्षिप्त रूप से विकारों सहित कहा गया है।×

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥६॥

अभिमान का न होना, पाखण्ड न करना, अहिंसा, सहन-शीलता, सरलता, आचार्य अर्थात् गुरु की उपासना, शरीर और मन की पवित्रता, बुद्धि की स्थिरता, आत्मसंयम।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का न होना, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा बीमारी से होने वाले दुःख और दोषों को देखना अर्थात् विचारना।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ८ ॥

×नोट—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतनता तथा धारणाशक्ति—यह क्षेत्र के विकार हैं जो जीवात्मा के संयोग से उसमें आते हैं।

आसक्ति का त्याग, पुत्र स्त्री तथा घर आदि में विशेष अनुराग का न होना, अच्छी चीजों की प्राप्ति तथा बुरी चीजों की प्राप्ति दोनों अवस्थाओं में सदा मन को एक जैसा रखना।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ९ ॥

अनन्यभाव से मेरा ही चिन्तन करते हुये मुझमें अटूट भक्ति का रखना, एकान्त देश में निवास करना, मनुष्यों की संगति से विरक्तता।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१०॥

अध्यात्मज्ञान (आत्मा सम्बन्धी ज्ञान) में सदा स्थित रहना तथा तत्वज्ञान के उद्देश्य को देखना—इस सबको ज्ञान कहते हैं और इससे जो विपरीत है उसको अज्ञान समझना चाहिये।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥११॥

जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है तथा जिसको जानकर अमृत (मोक्ष) की प्राप्ति होती है—उसको कहूंगा। वह आदि रहित (कारण रहित, सनातन) परम ब्रह्म है जिसको न सत् (अस्तित्व वाला, मौजूद) ही कहा जाता है और न असत् (अस्तित्व हीन, गैर मौजूद) ही कहा जाता है।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१२॥

वह सब ओर हाथ पांव वाला है, सब ओर आंख, शिर और मुख वाला है तथा सब ओर कानों वाला है और संसार में सबको व्याप्त करके ठहरा हुआ है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१३॥

वह समस्त इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान रखने वाला तथा समस्त इन्द्रियों से रहित है। आसक्ति रहित, सबका धारण पोषण करने वाला, सत्व, रज, तम आदि गुणों से परे तथा गुणों का भोग करने वाला है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१४॥

वह प्राणियों के अन्दर भी है और बाहर भी है, चलने वाला भी है और न चलने वाला भी है, सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा न जाना जाने वाला तथा दूर भी है और पास भी है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१५॥

वह विभागरहित होता हुआ भी प्राणियों में अलग-अलग की भांति ठहरा हुआ मालूम होता है। उसको प्राणियों का भरण पोषण करने वाला, नाश करने वाला तथा उत्पन्न करने वाला जानना चाहिये।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१६॥

वह ज्योतियों की भी ज्योति है तथा उसे अन्धकार (अज्ञान)

से परे कहा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य, ज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाला तथा सबके हृदय में ठहरा हुआ है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१७॥

प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) इन दोनों को ही अनादि (कारण रहित) जान और विकारों (परिवर्तनों) तथा गुणों (सत्व, रज, तम) को प्रकृति से उत्पन्न होने वाला जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥१८॥

कार्य (शरीर) तथा करण (इन्द्रियाँ) की उत्पत्ति में प्रकृति को कारण कहा जाता है और सुखों तथा दुःखों के भोगने में पुरुष (जीवात्मा) को कारण कहा जाता है अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति है और सुख तथा दुःख को भोगने वाला जीवात्मा है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥१९॥

क्योंकि प्रकृति में ठहरा हुआ जीवात्मा प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों (सत्व, रज, तम) को भोगता है और यह गुणों का संसर्ग ही उसके अच्छी तथा बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२०॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, जिस कदर भी स्थावर (अपने स्थान पर ठहरे हुये जैसे वृक्ष, लता आदि) तथा जंगम (चलने फिरने

वाले जैसे मनुष्य, पशु आदि) प्राणी पैदा होते हैं—उन सबको क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) के संयोग से उत्पन्न होने वाला जान।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२१॥

जो मनुष्य नष्ट होते हुये समस्त प्राणियों में समभाव से ठहरे हुये अविनाशी ईश्वर को देखता है वही वास्तव में देखता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

क्योंकि सब प्राणियों में समभाव से ठहरे हुये ईश्वर को सर्वत्र देखता हुआ वह अपने द्वारा आप अपनी आत्मा का हनन नहीं करता इस कारण से परमगति को प्राप्त होता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२३॥

और जो मनुष्य सब कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये हुये देखता है तथा अपने आपको अकर्ता (कुछ न करने वाला) देखता है वही वास्तव में देखता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥२४॥

जब मनुष्य प्राणियों के अलग-अलग भाव को एक परमात्मा में ठहरा हुआ देखता है और उस परमात्मा से ही सब प्राणियों का विस्तार देखता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त करता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥२५॥

हे कुन्तीपुत्र, अनादि (कारणरहित) होने के कारण तथा निर्गुण (गुणों से परे) होने के कारण यह अविनाशी परमात्मा शरीर में रहता हुआ भी न कुछ करता है और न लिप्त होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥२६॥

जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जीवात्मा शरीर में सर्वत्र रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥२७॥

हे भारत, जिस प्रकार एक सूर्य इस सारे जगत को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री (जीवात्मा) सारे क्षेत्र (शरीर) को प्रकाशित करता है।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥२८॥

जो पुरुष इस प्रकार क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के भेद को तथा प्राणियों के प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने (के साधन) को ज्ञानचक्षु द्वारा जानते हैं वह परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

—:—

चौदहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले, ज्ञानों में उत्तम महान ज्ञान को मैं फिर तेरे प्रति कहूँगा जिसको जानकर सारे मुनि यहाँ परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥२॥

हे भारत, महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है । उसमें मैं गर्भ (जीवात्मा रूपी बीज) को स्थापित करता हूँ जिससे समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है ।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥३॥

हे कुन्तीपुत्र, समस्त योनियों में जो मूर्तियाँ (नाना प्रकार के प्राणी) उत्पन्न होती हैं महत् ब्रह्म (प्रकृति) उनकी योनि (उत्पत्तिस्थान) है और मैं उसमें जीवात्मा रूपी बीज को डालने वाला पिता हूँ ।

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिन मव्ययम् ॥४॥

हे महाबाहु अर्जुन, सत्व, रज तथा तम—यह तीनों प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं ।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥५॥

हे निष्पाप अर्जुन, उनमें से प्रकाश करने वाला तथा दोषरहित सतोगुण निर्मल होने के कारण (जीव को) सुख के संयोग से तथा ज्ञान के संयोग से बांधता है ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥६॥

हे कुन्तीपुत्र, रागात्मक (राग के स्वभाव वाला) रजोगुण को तृष्णा (अभिलाषा, लालच) तथा आसक्ति से उत्पन्न होने वाला जान । वह जीवात्मा को (इस शरीर में) कर्म के संयोग से बांधता है ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥७॥

और हे भारत, समस्त देहधारियों को मोहित करने वाले तमोगुण को अज्ञान से पैदा होने वाला जान । वह प्रमाद (गफलत) आलस्य और निद्रा के संयोग से (जीवात्मा को) बाँधता है ।

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥८

हे भारत, सतोगुण (जीवात्मा को) सुख में तथा रजोगुण कर्मों में बांधता है और तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद (भूल, गफलत) में आसक्त करता है ।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥९॥

हे भरतवंशी अर्जुन, रजोगुण तथा तमोगुण को दवाकर सतोगुण, रजोगुण तथा सतोगुण को दवाकर तमोगुण और उसी प्रकार तमोगुण तथा सतोगुण को दबाकर रजोगुण प्रवल होता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥१०॥

जब इस शरीर में सब द्वारों में अर्थात् इन्द्रियों और मन में प्रकाश तथा ज्ञान उत्पन्न होता है तब ऐसा जानना चाहिये कि सतोगुण बढ़ गया है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥११॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति (सांसारिक विषयों में अनुरक्ति) कर्मों का आरम्भ, अशान्ति तथा अभिलाषा—यह सब पैदा होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१२॥

हे कुरुनन्दन, तमोगुण के बढ़ने पर अप्रकाश (अविद्या रूपी अन्धकार), अप्रवृत्ति (कर्म करने में रुचि न होना), प्रमाद (भूल, गफलत) तथा मोह—यही सब पैदा होते हैं।

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१३॥

जब देहधारी (जीवात्मा) सतोगुण की बढ़ी हुई हालत में मृत्यु को प्राप्त होता है तब उत्तम ज्ञान रखने वालों के निर्मल लोकों को प्राप्त करता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥१४॥

रजोगुण की बढ़ी हुई हालत में मृत्यु को प्राप्त होकर कर्म में आसक्ति रखने वाले पुरुषों में उत्पन्न होता है और उसी प्रकार तमोगुण की बढ़ी हुई हालत में मरने पर मूढ़योनियों (नीच योनियों) में जन्म लेता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१५॥

अच्छे अर्थात् सात्विक कर्मों का फल सात्विक (श्रेष्ठ) तथा निर्मल, राजसिक कर्मों का फल दुःख और तामसिक कर्मों का फल अज्ञान कहा है।

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१६॥

सतोगुण से ज्ञान पैदा होता है तथा रजोगुण से लोभ ही पैदा होता है और तमोगुण से प्रमाद तथा मोह पैदा होते हैं और अज्ञान भी होता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१७॥

सतोगुण में ठहरे हुये पुरुष ऊपर जाते हैं, रजोगुण वाले बीच में रहते हैं और नीच गुणों की वृत्ति का आश्रय लिये हुये तमोगुणी पुरुष नीचे जाते हैं।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ १८ ॥

जीवात्मा शरीर से उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों को पार करके जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) तथा दुःखों से छूटा हुआ अमरपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥१६॥

अर्जुन बोला कि हे स्वामिन्, इन तीनों गुणों से पार गये हुये पुरुष के क्या लक्षण हैं और उसका आचार क्या है तथा वह कैसे इन तीनों गुणों से पार जाता है।

श्रीकृष्ण उवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्ताजि कांक्षति ॥२०॥

श्रीकृष्ण बोले कि हे पाण्डुपुत्र, प्रकाश (सतोगुण का फल), प्रवृत्ति (रजोगुण का फल) तथा मोह (तमोगुण का फल) के प्रवृत्त (प्रगट, उत्पन्न) होने पर जो इनसे घृणा नहीं करता तथा इनके निवृत्त (समाप्त) होने पर जो इनकी आकांक्षा नहीं करता।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२१॥

उदासीन (विरक्त, तटस्थ) के समान ठहरा हुआ जो गुणों द्वारा विचलित नहीं किया जाता और यह समझ कर कि गुण अपना काम कर रहे हैं जो स्थिर रहता है तथा चलायमान नहीं होता।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२२॥

दुःख और सुख में समान, स्वस्थ (अपने में स्थिर), मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण को समान समझने वाला, प्रिय अप्रिय में समभाव रखने वाला, धैर्य्यवान, निन्दा तथा अपनी प्रशंसा को बराबर जानने वाला।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२३॥

मान (इज्जत) तथा अपमान (बे-इज्जती) को एक जैसा समझने वाला, मित्र तथा शत्रुपक्ष में समभाव रखने वाला, सब प्रकार की प्रवृत्तियों का त्याग करने वाला—ऐसा वह पुरुष "गुणातीत" (गुणों को पार करने वाला) कहा जाता है।

★

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले, जिसकी जड़ ऊपर है और शाखायें नीचे हैं तथा वेद जिसके पत्ते हैं और जिसको अविनाशी (कभी नाश न होने वाला) कहा जाता है—ऐसे (संसार रूपी) पीपल के वृक्ष को जो जानता है वह वेद का जानने वाला है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

गुण (सत्व, रज. तम) रूपी जल से पली हुई तथा विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) रूपी कोंपलों वाली उसकी (संसार रूपी पीपल-वृक्ष की) शाखायें नीचे और ऊपर फैली हुई हैं। मनुष्यलोक में कर्मों के बन्धन में (जीव को) बांधने वाली उसकी जड़ें नीचे भी फैली हुई हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

इस संसार रूपी पीपल के वृक्ष का वैसा रूप (जैसा कि वर्णन किया गया) यहां प्राप्त नहीं होता क्योंकि न इसका अन्त है न इसका प्रारम्भ है और न इसकी स्थिति ही है। इस अत्यन्त गहरी जड़ वाले पीपल के वृक्ष को वैराग्य की दृढ़ तलवार से काट कर।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

फिर उस पद की तलाश करनी चाहिये जिसमें गये हुये पुरुष फिर लौटकर नहीं आते और यह समझना चाहिये कि मैं उसी आदि

पुरुष (परमात्मा) की शरण हूँ जिससे पुरातन संसार रूपी वृक्ष की प्रवृत्ति का विस्तार हुआ है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जो अभिमान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने आसक्ति रूपी दोष पर विजय प्राप्त करली है, जो सदा अध्यात्मज्ञान (आत्मा का ज्ञान) में स्थिर हैं, जिनकी कामनायें समाप्त हो चुकी हैं—जो सुख दुःख आदि द्वन्द्वों (जोड़ों) से मुक्त हैं—ऐसे ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥६॥

यह जीवात्मा कान, आंख, त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा मन को अधिष्ठान बनाकर अर्थात् इनमें ठहर कर विषयों का उपभोग करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥७॥

शरीर से निकल कर जाते हुये, शरीर में ठहरे हुये, विषयों का भोग करते हुये, गुणों (सत्व, रज, तम) से युक्त हुये जीवात्मा को मूर्ख लोग नहीं देखते। ज्ञानचक्षु रखने वाले बुद्धिमान लोग देखते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥८॥

प्रयत्न करते हुये योगीजन अपने आप में ठहरे हुये इस जीवात्मा को देखते हैं और अकृतात्मा (असंस्कृत अर्थात् अशिक्षित बुद्धि वाले) तथा अज्ञानी लोग यत्न करने पर भी इसको नहीं देखते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥९॥

जो तेज सूर्य में रहता हुआ सारे जगत को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है—उसको मेरा ही तेज जान।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१०॥

और मैं सबके हृदय में स्थित हूँ। मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा अपोहन (तर्कवितर्क करने की शक्ति) है। सारे वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त (वेद का अन्तिम भाग) का बनाने वाला तथा वेद का जानने वाला भी मैं ही हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥११॥

इस लोक में क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) यह दो प्रकार के पुरुष हैं। समस्त प्राणियों के शरीर क्षर अर्थात् नाशवान् हैं और कूटस्थ (जीवात्मा) को अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१२॥

परन्तु उत्तम पुरुष तो और ही है जिसे परमात्मा कहा जाता है वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सारी प्रजा का भरण पोषण करता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१३॥

क्योंकि मैं क्षर अर्थात् नाशवान जड़ पदार्थों से परे हूँ और अक्षर (अविनाशी, जीवात्मा) से भी उत्तम हूँ इसलिये लोक और वेद में पुरुषोत्तम के नाम से विख्यात हूँ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१४॥

हे भारत, इस प्रकार से जो बुद्धिमान पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सब कुछ जानने वाला पूर्णश्रद्धा से मुझको भजता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥१५॥

हे निष्पाप अर्जुन, यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसको जानकर (पुरुष) बुद्धिमान् और कृतकृत्य (सफल मनोरथ) हो जाता है।

सोलहवां अध्याय

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

निर्भयता (निडरता), मन की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ता के साथ स्थित होना, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ (अग्निहोत्र आदि लोक-

हित के कार्य करना), स्वाध्याय (वेद शास्त्रों का अध्ययन), तप, सरलता ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा (मन वचन कर्म से किसी को कष्ट न देना), सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणियों पर दया, लालच का न होना, नम्रता, बुरे कर्म करने में लज्जा, चंचलता का न होना ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेज, सहनशीलता, धैर्य, शरीर और मन की स्वच्छता, वैर न करना, अधिक मान का न होना—हे भारत, यह सब दैवी सम्पत्ति को साथ लेकर पैदा हुये पुरुष के लक्षण हैं ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

हे अर्जुन, पाखण्ड, दर्प (गर्व, चिड़चिड़ापन), अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—यह आसुरी (राक्षसी) सम्पत्ति को साथ लेकर पैदा हुये पुरुष के लक्षण हैं ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पत्ति मोक्ष को देने वाली तथा आसुरी सम्पत्ति बन्धन में डालने वाली मानी गई है । हे पाण्डुपुत्र, शोक मत कर, तू दैवी संपत्ति को साथ लेकर पैदा हुआ है ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

हे अर्जुन, इस संसार में दैव और आसुर—दो प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है । दैव का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया, अब आसुर का वर्णन मुझसे सुन ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुर लोग प्रवृत्ति (कर्तव्य) और निवृत्ति (अकर्तव्य, न करने योग्य) को नहीं जानते । उनमें न शरीर और न मन की पवित्रता होती है, न आचार (श्रेष्ठ आचरण) होता है और न ही सत्य होता है ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वह लोग कहते हैं कि जगत मिथ्या है, निराधार है, बिना ईश्वर का है, स्त्री और पुरुष के परस्पर संयोग से बना है, कामवासना के अतिरिक्त (सिवाय) इसका और क्या हेतु है ।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

इस दृष्टि (मत, विचार) का आश्रय लेकर नष्टात्मा, थोड़ी बुद्धि वाले, भयानक कर्म करने वाले, सबका अहित करने वाले पुरुष जगत के नाश के लिये ही उत्पन्न होते हैं ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

पाखण्ड, अभिमान तथा मद से युक्त हुये यह अपवित्र व्रतों वाले लोग कभी पूरी न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर अज्ञान से झूठे सिद्धान्तों को ग्रहण करके कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

काम वासनाओं की पूर्ति में लगे हुये, मरते दम तक साथ रहने वाली अपरिमित (असीमित, असंख्य) चिन्ताओं का आश्रय लिये हुये, इतना ही आनन्द है ऐसा समझने वाले।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

आशाओं के सैंकड़ों जालों में जकड़े हुए, काम क्रोध में लगे हुये (वह आसुर लोग) विषय भोगों की पूर्ति के लिये अन्याय से धन संग्रह करने का उद्योग करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

यह आज मैंने प्राप्त किया, इस मनोरथ को प्राप्त करूंगा। यह धन मेरे पास है और फिर वह धन भी मेरा होगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

इस शत्रु को मैंने मार डाला, दूसरे शत्रुओं को भी मारूंगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोग करने वाला, मैं सिद्धियों से सम्पन्न, मैं बलवान और मैं सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं धनवान तथा कुलीन हूँ, मेरे बराबर दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, आनन्द मनाऊंगा—इस प्रकार के अज्ञान से मोहित ।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक विचारों से भ्रान्त हुये चित्त वाले, मोहजाल में फंसे हुये, विषय भोगों में आसक्त (वह लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं ।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

आप अपनी प्रशंसा करने वाले, स्तब्ध (कठोर, जिद्दी), धन तथा मान (इज्जत) के नशे में चूर—वह लोग पाखण्ड से शास्त्र की विधि को छोड़कर नाममात्र यज्ञ करते हैं ।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, गर्व, काम तथा क्रोध का आश्रय लिये हुये, दूसरों की निन्दा करने वाले (वह पुरुष) अपनी तथा पराई देह में ठहरे हुये मुझ परमात्मा से द्वेष करने वाले हैं ।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन द्वेष करने वाले, क्रूर (निर्दयी, भयानक), मनुष्यों में नीच

तथा अशुभ (खोटे) कर्म करने वाले पुरुषों को मैं संसार में निरन्तर नीच योनियों में फेंकता अर्थात् भेजता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कुन्तीपुत्र, वह मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में नीच योनियों में जाकर मुझे प्राप्त न करके अन्त में अधम गति को प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध तथा लोभ—यह तीन प्रकार के आत्मा का नाश करने वाले (आत्मा का पतन करने वाले) नरक के द्वार हैं इसलिये इन तीनों को छोड़ना चाहिये।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कुन्तीपुत्र, इन तीनों तमोगुण (अज्ञान, अन्धकार) के द्वारों से छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याण के लिये आचरण करता है और फिर परम गति को प्राप्त होता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो पुरुष शास्त्र में बताई हुई विधि को छोड़कर मनमाने ढंग से चलता है—उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न परम गति प्राप्त होती है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय कराने में तेरे लिये शास्त्र प्रमाण है। इसको जानकर तुझे शास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार कर्म करना योग्य है।

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन बोला कि हे कृष्ण, जो लोग शास्त्र की विधि को छोड़कर श्रद्धापूर्वक यज्ञ करते हैं उनकी निष्ठा (श्रद्धा, विश्वास) कैसी है— सात्विक है अथवा राजसिक अथवा तामसिक।

श्रीकृष्ण उवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले कि प्राणियों की वह स्वभाव से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा सात्विक, राजसिक तथा तामसिक तीन प्रकार की होती है, उसको सुन।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत, सब प्राणियों की श्रद्धा उनके मन के अनुसार होती है। यह पुरुष श्रद्धा से भरा हुआ है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सतोगुणी पुरुष देवताओं की पूजा करते हैं, रजोगुणी पुरुष यक्षों और राक्षसों का पूजन करते हैं तथा दूसरे तमोगुणी पुरुष प्रेतों और भूतों के समूह की उपासना करते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥५॥

और भोजन भी सबको तीन प्रकार का ही प्रिय लगता है और यज्ञ, तप तथा दान भी तीन प्रकार के ही हैं। उनके इस भेद को मुझसे सुन।

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥६॥

आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख तथा प्रीति को बढ़ाने वाले रसीले, चिकने, स्थिर (देर तक शरीर में रहने वाले), हृदय को प्यारे लगने वाले आहार (भोजन) सतोगुणी पुरुषों को प्रिय लगते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥७॥

चरपरे, खट्टे, नमकीन, बहुत गर्म, तीक्ष्ण (तेज़), रूखे, विदाही (जलन पैदा करने वाले) तथा दुःख शोक और रोग को पैदा करने वाले आहार (भोज्य पदार्थ) रजोगुणी पुरुषों को प्यारे होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥८॥

देर के बने हुये, नष्ट स्वाद वाले, दुर्गन्धित, बासी, झूठे तथा बुद्धिनाशक भोजन तमोगुणी पुरुषों को प्रिय लगते हैं।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥९॥

फल की आशा को छोड़कर, शास्त्र की विधि के अनुसार मन में यह समझते हुये कि यह करना कर्तव्य है—जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक यज्ञ कहलाता है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपिचैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१०॥

परन्तु हे भरत कुल में श्रेष्ठ अर्जुन, फल के उद्देश्य से अथवा पाखण्ड के लिये (दुनिया दिखावे के लिये) जो यज्ञ किया जाता है उसको राजसिक यज्ञ जान।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥११॥

शास्त्रविधि से रहित, अन्नदान के बिना, मन्त्रोच्चारण तथा दक्षिणा के बगैर और श्रद्धा से रहित जो यज्ञ किया जाता है उसको तामसिक यज्ञ कहते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१२॥

देवता (विद्वान), ब्राह्मण, गुरु तथा बुद्धिमानों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१३॥

व्याकुलता न पैदा करने वाले, सच्चे, प्यारे तथा हितकारी भाषण को और वेद शास्त्रों के पढ़ने के अभ्यास को वाणी का तप कहते हैं।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१४॥

मन की प्रसन्नता, शान्ति, थोड़ा बोलना, आत्मसंयम और विचारों की शुद्धि—यह मानसिक तप कहलाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभियुक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥१५॥

फल की इच्छा न रखने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से युक्त होकर जो तीनों प्रकार के तप किये जाते हैं—वह सात्विक तप कहलाते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१६॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये अथवा पाखण्ड से किया जाता है—उस अस्थायी तथा अनिश्चित फल वाले तप को यहां राजसिक तप कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१७॥

जो तप मूढ़ता के आग्रह से आत्मा को कष्ट देकर अथवा दूसरे का नाश करने के लिये किया जाता है—उसे तामसिक तप कहते हैं।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥१८॥

दान देना कर्तव्य है—यह समझकर जो दान देश, काल और पात्र का विचार करके अपना उपकार न करने वाले को दिया जाता है—वह सात्विक दान कहलाता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥१६॥

और जो दान बदला चुकाने के लिये अथवा फल की कामना से और क्लेश मान कर (दुःखित होकर) दिया जाता है वह राजसिक दान कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२०॥

अयोग्य स्थान तथा अयोग्य समय में जो दान कुपात्र (अनधिकारी) को बिना आदर के अवज्ञापूर्वक (तिरस्कार के साथ) दिया जाता है वह तामसिक दान कहलाता है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२१॥

ॐ, तत् और सत्—यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा गया है। उसी ब्रह्म ने सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञों को उत्पन्न किया।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२२॥

इसलिये ब्रह्मवादियों (वेद पढ़ाने वालों) के यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्र में कहे हुये कर्म सदा "ओ३म्" शब्द का उच्चारण करके प्रारम्भ किये जाते हैं।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२३॥

मोक्ष को चाहने वाले "तत्" शब्द का उच्चारण करके फल की इच्छा न रखते हुये यज्ञ, तप, दान आदि नाना प्रकार के कर्म किया करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२४॥

अस्तित्व (सत्ता, मौजूदगी) के अर्थ में तथा साधुता (श्रेष्ठता, भलाई) के अर्थ में "सत्" शब्द का प्रयोग किया जाता है और हे अर्जुन, इसी प्रकार प्रशंसनीय कर्मों के अर्थ में भी "सत्" शब्द का प्रयोग होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२५॥

यज्ञ, तप तथा दान में स्थिति (स्थिर रहना) को भी "सत्" कहा जाता है और उसके (यज्ञ, दान, तप आदि के) लिये जो कर्म है— वह भी "सत्" नाम से ही पुकारा जाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२६॥

हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप तथा किया हुआ जो कर्म है—वह "असत्" कहा जाता है। वह न मरने के बाद काम आता है, न इस लोक में।

———

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोला कि हे महाबाहु (बड़ी भुजाओं वाले), हे हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामी अर्थात् जितेन्द्रिय), हे केशिनिषूदन (केशि राक्षस को मारने वाले), मैं संन्यास और त्याग के तत्व (सार, मर्म) को अलग-अलग जानना चाहता हूं।

श्रीकृष्ण उवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले कि सकाम कर्मों के त्याग को पण्डित लोग संन्यास जानते हैं और समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान पुरुष त्याग कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कुछ विद्वान ऐसा कहते हैं कि (सब) कर्म दोषपूर्ण हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये और दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, उस त्याग के बारे में मेरे निश्चय (निर्णय) को सुन। हे पुरुषसिंह, त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तप—यह कर्म नहीं छोड़ने चाहियें। इनको करना ही चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

हे अर्जुन, इन कर्मों को भी आसक्ति तथा फल की कामना को छोड़कर करना चाहिये—ऐसा मेरा निश्चित तथा श्रेष्ठ मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

शास्त्र द्वारा नियत किये हुये कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है। मोह (अज्ञान) से उनका त्याग करना तामस त्याग कहा जाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

शरीर को दुःख पहुँचने के डर से जो पुरुष कर्मों को दुःख मानकर कर्मों का त्याग करदे वह पुरुष राजस त्याग को करके त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन, आसक्ति और फल की कामना को छोड़कर जो नियत (शास्त्रविहित) कर्म कर्तव्य समझ कर किया जाता है—वह सात्विक त्याग माना जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

सतोगुण से युक्त, बुद्धिमान, संशयरहित त्यागी पुरुष अकुशल (असफल, कल्याण न करने वाला) कर्म से द्वेष (घृणा, नफरत) नहीं करता और कुशल (सफल, कल्याणकारी) कर्म में आसक्त नहीं होता।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

क्योंकि देहधारी पुरुष समस्त कर्मों को पूर्णरूप से त्यागने में समर्थ नहीं है, इसलिये जो कर्मों के फल का त्याग करने वाला है—वही त्यागी कहलाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अत्यागी अर्थात् फलों की कामना का त्याग न करने वाले पुरुषों को कर्मों का अच्छा, बुरा और मिला जुला—तीन प्रकार का फल मरने के बाद भी मिलता है परन्तु संन्यासियों अर्थात् फल की कामना का त्याग करने वाले पुरुषों को यह फल कहीं भी नहीं मिलता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहु, सब कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य सिद्धान्त में बताये हुये इन पांच कारणों को मुझसे जान।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान (स्थान) तथा कर्ता (करने वाला), भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन, नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टायें (हरकतें) और इसी विषय में पांचवां दैव (भाग्य)।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर, वाणी और मन द्वारा मनुष्य न्यायानुकूल (उचित, जायज) अथवा न्याय के विरुद्ध (अनुचित, नाजायज) जो भी कर्म प्रारम्भ करता है—यह पांचों उसका कारण होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

इस विषय में ऐसा होते हुये भी अर्थात् इन पांचों कारणों के मौजूद होते हुये भी जो मनुष्य बुद्धि का उत्तम संस्कार न होने के कारण केवल अपने आपको ही कर्ता (करने वाला) समझता है वह दुर्मति कुछ नहीं जानता।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसमें अहंकार की भावना नहीं है अर्थात् जो अपने आपको कर्ता (करने वाला) नहीं समझता और जिसकी बुद्धि (कर्मों के फल में) लिप्त नहीं है वह इन लोकों को मार कर भी नहीं मारता और न ही बन्धन में पड़ता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान, ज्ञेय (जानी जाने वाली वस्तु) और ज्ञाता (जानने वाला)—यह तीन प्रकार की कर्म की प्रेरणा है अर्थात् यह तीनों चीजें कर्म में प्रवृत्त कराने वाली हैं और करण (कर्म करने का साधन, इन्द्रियां आदि), कर्म (चेष्टा, क्रिया) तथा कर्ता (करने वाला)—यह तीन प्रकार का कर्म संग्रह है अर्थात् इन तीनों के परस्पर संयोग से कर्म होता है ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

महर्षि कपिल के बनाये हुये सांख्य शास्त्र में गुणों के भेद से ज्ञान, कर्म और कर्ता (करने वाला) तीन प्रकार के बताये गये हैं। उनको भी मुझसे यथार्थ रूप में (ठीक ठीक) सुन ।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अलग-अलग सब प्राणियों में एक अविनाशी तथा विभागरहित (जिसका विभाजन अर्थात तकसीम न हो सके) तत्व (ईश्वर) को देखता है—उस ज्ञान को सात्विक ज्ञान समझ ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

और जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य समस्त प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना (अनेक) भावों को अलग-अलग करके जानता है—उस ज्ञान को राजस ज्ञान जान ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जो ज्ञान बिना युक्ति (तर्क, दलील) का, वास्तविकता (असलीयत) से रहित, थोड़ा तथा एक ही चीज को सब कुछ समझ कर उसमें आसक्त रहने वाला है—उस ज्ञान को तामस ज्ञान कहा गया है ।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥२३॥

शास्त्रों द्वारा नियत (निश्चित), आसक्ति (अनुरक्ति, लगाओ) से रहित, फल की कामना न रखने वाले पुरुष के द्वारा बिना राग (प्रेम) और द्वेष (घृणा) के किया हुआ जो कर्म है—वह सात्विक कर्म कहलाता है ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

और जो कर्म फल की इच्छा रखने वाले अथवा अहंकारी (अपने को कर्ता समझने वाले) पुरुष के द्वारा बड़े परिश्रम (मेहनत) से किया जाता है—वह राजस कर्म कहा गया है ।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो कर्म परिणाम (नतीजा), हानि (नुकसान), दूसरे की पीड़ा तथा अपनी सामर्थ्य (शक्ति) का विचार किये बिना मोह से आरम्भ किया जाता है—उसको तामस कर्म कहते हैं ।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥२६॥

आसक्ति (अनुरक्ति, लगाओ) से छूटा हुआ, अहंकार की वाणी न बोलने वाला, धैर्य्य तथा उत्साह से युक्त, कर्म की सफलता (कामयाबी) और असफलता (नाकामयाबी) में विकार को प्राप्त न होने वाला अर्थात् एक जैसा रहने वाला जो कर्ता (कर्म का करने वाला) है—वह सात्विक कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

विषयों में अनुराग (प्रेम) रखने वाला, कर्म के फल की इच्छा रखने वाला, लालची, हिंसा की भावना रखने वाला, अपवित्र तथा हर्ष और शोक से युक्त जो कर्ता है —वह राजस कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

चित्त लगाकर काम न करने वाला, अशिक्षित, स्तब्ध (जड़, अभिमानी, जिद्दी), दुष्ट, दूसरों का अहित करने वाला, आलसी, शोक करने वाला, थोड़े से काम को बहुत देर में करने वाला कर्ता तामस कहलाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे अर्जुन, बुद्धि तथा धृति (धारणा शक्ति) का गुणों (सत्व, रज, तम) के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा पूर्णरूप से अलग-अलग कहा हुआ सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थसात्विकी ॥३०॥

हे अर्जुन, जो बुद्धि प्रवृत्ति (कर्ममार्ग) और निवृत्ति (ज्ञानमार्ग, त्याग) को, कर्तव्य (करने योग्य) और अकर्तव्य (न करने योग्य) को, भय और निर्भयता (निडरता) को तथा बन्धन और मोक्ष को जानती है उसे सात्विकी (सतोगुणी) बुद्धि कहते हैं।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे अर्जुन, जिस बुद्धि से धर्म, अधर्म, कर्तव्य (करने योग्य) और अकर्तव्य (न करने योग्य) का यथार्थ (ठीक) ज्ञान नहीं होता—वह राजसी बुद्धि है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन, जो तमोगुण से ढकी हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है और सब बातों को उल्टा ही समझती है—वह तामसी बुद्धि है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ॥३३॥

हे पृथापुत्र, न बदलने वाली जिस धृति (धारणा शक्ति) से मनुष्य योग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं (चेष्टाओं) का धारण (निग्रह, कन्ट्रोल) करता है—वह सात्विकी धृति है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे अर्जुन, प्रसंग से फल की कामना रखने वाला पुरुष जिस धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और काम का धारण करता है वह धृति राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

हे पार्थ, दुर्बुद्धि पुरुष जिस धृति से निद्रा, भय, शोक, विषाद (दुःख, उदासी) और मद (गफलत, मस्ती) को नहीं छोड़ता वह तामसी धृति है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन, अब सुख भी मुझसे तीन प्रकार का सुन। जिसमें (मनुष्य) अभ्यास से (धीरे-धीरे) रम जाता है और दुःखों के नाश को प्राप्त करता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जो आरम्भ में विष के तुल्य मालूम होता है परन्तु परिणाम जिसका अमृत के समान है—ऐसे उस सुख को जो आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, सात्विक सुख कहा गया है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामेविषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

जो इन्द्रियों और विषयों के परस्पर संयोग से उत्पन्न होता है और जो आरम्भ में अमृत के समान और परिणाम में विष के सदृश है—वह राजस सुख माना गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

निद्रा, आलस्य और प्रमाद (भूल, गफलत) से पैदा होने वाला, आरम्भ में भी और परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला जो सुख है—वह तामसिक कहा गया है ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथिवी में अथवा आकाश में अथवा देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों (सत्व, रज, तम) से मुक्त हो ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे शत्रु को सन्ताप देने वाले, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों के आधार पर बांटे गये हैं ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

इच्छाओं का शमन, इन्द्रियों का दमन, तप (ईश्वर प्राप्ति के लिये कठोर व्रतों का पालन करना), शरीर और मन की पवित्रता, सहनशीलता, सरलता, ज्ञान (सांसारिक पदार्थों का ज्ञान), विज्ञान (परमात्मा का ज्ञान) और आस्तिकबुद्धि अर्थात् ईश्वर में विश्वास—यह ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरवीरता, तेज (कान्ति), धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान, प्रभुता का भाव—यह क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गौ पालन, व्यापार—यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं और सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।*

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अपने-अपने कर्म में लगा हुआ पुरुष सिद्धि को प्राप्त करता है। अपने कर्म में लगा हुआ जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है—वह सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

---

*नोट—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—यह वर्ण गुण कर्म तथा स्वभाव के आधार पर होते हैं, जन्म के आधार पर नहीं। ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होने वाला अपने कर्मों से शूद्र और शूद्र के घर में उत्पन्न होने वाला अपने कर्मों से ब्राह्मण बन सकता है। इस विषय में मनु का प्रमाण है:—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

मनु० [१०।६५]

अर्थात् शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है। क्षत्रिय से उत्पन्न होने वाले तथा वैश्य से उत्पन्न होने वाले के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

जिससे प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सब (संसार) विस्तार को प्राप्त हुआ है—अपने कर्मों द्वारा उसका पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥४७॥

दूसरे के अच्छी प्रकार पालन किये हुये धर्म की अपेक्षा अपना गुण रहित धर्म भी कल्याणकारी है। स्वभाव के अनुसार नियत किये हुये कर्म को करता हुआ पुरुष पाप को प्राप्त नहीं होता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

हे कुन्तीपुत्र, अपना स्वाभाविक (स्वभाव के अनुकूल) कर्म यदि दोषयुक्त भी हो तो भी नहीं त्यागना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार धुयें से अग्नि ढकी हुई है उसी प्रकार सब कर्म किसी न किसी दोष से युक्त हैं।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥४९॥

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानता है कि मैं नहीं लड़ूंगा तो यह तेरा निश्चय मिथ्या (झूठा, गलत) है क्योंकि तेरा स्वभाव तुझको युद्ध में लगा देगा अर्थात् लड़ने पर मजबूर कर देगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥५०॥

हे कुन्तीपुत्र, मोह में फंसे होने के कारण जिस कर्म को तू नहीं

करना चाहता उसको अपने स्वाभाविक कर्म से बंधा हुआ मजबूर होकर करेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥५१॥

हे अर्जुन, यन्त्र (शरीर रूपी मशीन) पर चढ़े हुये सब प्राणियों को ईश्वर (उनके कर्मानुसार) अपनी शक्ति से घुमाता हुआ सब प्राणियों के हृदय में रहता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥५२॥

हे भारत, पूरी भावना से उसी की (परमात्मा की) शरण में जा। उसकी कृपा से परम शान्ति तथा शाश्वत (हमेशा कायम रहने वाला) स्थान को प्राप्त करेगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥५३॥

यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान मैंने तुझको सुनाया। इस पर पूर्णरूप से विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥५४॥

हे अर्जुन, क्या तूने एकाग्र चित्त होकर इस (ज्ञान) को सुना और हे धनंजय (धन को जीतने वाले), क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न होने वाला मोह (इसको सुनकर) नष्ट हुआ।

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥५५॥

अर्जुन बोला कि हे अच्युत (अपने स्थान से न डिगने वाले), आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और (कर्तव्यसम्बन्धी) स्मृति (स्मरणशक्ति, याददाश्त) मुझे प्राप्त हो गई। मैं सन्देहरहित होकर ठहरा हुआ हूँ, आपकी आज्ञानुसार आचरण करूंगा।

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥५६॥

संजय बोला कि इस प्रकार वासुदेव श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमांचकारी (रोंगटे खड़े करने वाला) सम्वाद मैंने सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥५७॥

व्यास की कृपा से मैंने यह अत्यन्त गोपनीय (गुप्त रखने योग्य) कर्मयोग साक्षात स्वयं योगीराज श्रीकृष्ण महाराज के मुख से सुना है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥५८॥

हे राजन, श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत तथा पवित्र संवाद का स्मरण कर-कर के मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥५६॥

जहाँ योगीराज श्रीकृष्ण हैं और जहां धनुष्धारी अर्जुन है वहाँ श्री (शोभा, लक्ष्मी), विजय (जीत), विभूति (ऐश्वर्य, सम्पत्ति) तथा निश्चित नीति है—यह मेरा मत है।

॥ इति ॥

ओ३म्

पहला अध्याय

इस अध्याय में से केवल एक श्लोक (४२वां) निकाला गया है जिसमें पितरों को जलदान तथा पिंडदान देने का वर्णन है। यह श्लोक वेदविरुद्ध तथा बुद्धिविरुद्ध होने के कारण महर्षि वेदव्यास का लिखा हुआ नहीं हो सकता। इस श्लोक के आगे पीछे के श्लोकों को देखने से भी पता चलता है कि यह किसी का मिलाया हुआ है। इसको निकाल देने से पुस्तक के क्रम में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

दूसरा अध्याय

इस अध्याय में से केवल पांच श्लोक (४२ से लेकर ४६ तक) निकाले गये हैं। इन श्लोकों में स्पष्ट रूप से वेद तथा वेद के अनुयायिओं की निन्दा है अतः यह महर्षि वेदव्यास के लिखे हुये नहीं हो सकते।

तीसरा अध्याय

इस अध्याय में से केवल तीन श्लोक (३० से लेकर ३२ तक) निकाले गये हैं। यह तीनों श्लोक प्रसंग विरुद्ध हैं। २९वें और ३३वें श्लोक का सम्बन्ध ठीक मिलता है अतः यह श्लोक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

चौथा अध्याय

इस अध्याय में से १२ श्लोक (६ से १५ तक और २४ तथा ३५) निकाले गये हैं। ६ से १५ तक श्लोक केवल श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार सिद्ध करने के लिये शामिल किये गये हैं। बुद्धि-पूर्वक देखने से मालूम होता है कि इनका वहां कोई प्रसंग भी नहीं है। ईश्वर का अवतार वेदविरुद्ध है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त हैं। २४वां श्लोक किसी नवीन वेदान्ती ने अद्वैतवाद सिद्ध करने के लिये मिलाया है। इसका स्वयं गीता से विरोध है क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन से कहते हैं :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि गीताकार प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों का मानने वाला है। अद्वैतवाद का मानने वाला नहीं है अतः इस अध्याय के २४वें श्लोक को प्रक्षिप्त समझना चाहिये। ३५वां श्लोक भी श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार सिद्ध करने के लिये मिलाया गया है।

पांचवां अध्याय

इस अध्याय में से केवल एक श्लोक (२६वां) निकाला गया है। यह इस अध्याय का अन्तिम श्लोक है। बुद्धिपूर्वक देखने से पता चलता है कि इस श्लोक की वहां कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार सिद्ध करने के लिये ही किसी ने बिना प्रसंग इसको अध्याय के अन्त में सम्मिलित कर दिया है।

छठा अध्याय

इस अध्याय में से केवल सात श्लोक (१३, १४, १५, २७, ३०, ३१, ४७) निकाले गये हैं। योगी को योगाभ्यास किस प्रकार करना चाहिये—इसका वर्णन १२वें श्लोक तक समाप्त हो जाता है। १६वें श्लोक में इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार के पुरुष योग सिद्ध नहीं कर सकते अतः १३ से १५ तक श्लोक बीच में अनावश्यक हैं इसलिये इनको प्रक्षिप्त समझा गया। २७वें श्लोक में योगी के ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्म हो जाने का वर्णन है। यह वर्णन भी वेदविरुद्ध तथा बुद्धि-विरुद्ध होने से माननीय नहीं क्योंकि जीव कभी ब्रह्म नहीं बन सकता। यदि जीव का ब्रह्म में मिलना माना जावे तो ब्रह्म में कमी बेशी (घटा बढ़ी) माननी पड़ेगी और जिसमें कमी बेशी हो वह ब्रह्म नहीं हो सकता; अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है। ३०वां और ३१वां श्लोक स्पष्ट रूप से प्रसंग विरुद्ध हैं। २६वें और ३२वें श्लोक का सम्बन्ध ठीक ठीक मिलता है। केवल श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार सिद्ध करने के लिये यह दोनों श्लोक बिना प्रसंग बीच में सम्मिलित किये गये हैं अतः इनको निकालना उचित समझा गया। ४७वां श्लोक पुनः श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार सिद्ध करने के लिये आवश्यकता न होते हुये भी अध्याय के अन्त में सम्मिलित कर दिया गया है।

सातवां अध्याय

इन अध्याय में से केवल तीन श्लोक (१९, २१, २२) निकाले गये हैं। १९वें श्लोक में "वासुदेव" शब्द जान बूझकर श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर सिद्ध करने के लिये प्रयोग में लाया गया है अतः इसके प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह नहीं। २१वें और २२वें श्लोक में यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि जो भक्त जिस देवता की श्रद्धा से उपासना

करनी चाहता है, उसकी उसी श्रद्धा को मैं उस देवता में स्थिर कर देता हूँ और फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करके मेरे नियत किये फल को प्राप्त करता है। यह बात बुद्धिविरुद्ध होने से माननीय नहीं क्योंकि परमात्मा किसी देवता में किसी की श्रद्धा को स्थिर नहीं करता। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह जिसकी चाहता है, उपासना करता है। यदि कोई पुरुष किसी ग़लत चीज को देवता मानकर उसकी उपासना करने की इच्छा करे और परमात्मा उसकी श्रद्धा को उसमें स्थिर करदे तो उस ग़लत चीज की उपासना करके जो पाप उस मनुष्य ने किया, उसमें परमात्मा उसका सहायक हुआ अतः इस प्रकार की बात महर्षि वेदव्यास की लिखी हुई नहीं हो सकती। इसी कारण इन श्लोकों को इस संग्रह में स्थान नहीं दिया गया।

आठवां अध्याय

इस अध्याय में से नौ श्लोक (७, १५, १६, २१, २३, २४, २५, २६, २७) निकाले गये हैं। छटे श्लोक में यह वर्णन है कि मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्तकाल में प्राण त्यागता है उसी उसी भाव के चिन्तन में सदा रहने के कारण उसी उस भाव को प्राप्त करता है। सातवें श्लोक में यह कहा गया है कि सब कालों में मेरा स्मरण कर और युद्ध कर, मन और बुद्धि मेरे अर्पण करके निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त करेगा। आठवें श्लोक में यह वर्णन है कि अभ्यास-योग में लगे हुये किसी दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से परमात्मा का चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य परमपुरुष को प्राप्त करता है। सातवें श्लोक का सारा भाव छटे और आठवें श्लोक में आ गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि सातवें श्लोक में यह कहा गया है कि मुझको प्राप्त करता है और आठवें श्लोक में दिव्य परमपुरुष को प्राप्त

करने की बात कही गई है अतः सातवां श्लोक अनावश्यक और प्रक्षिप्त है और केवल श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर सिद्ध करने के उद्देश्य से वहां रखा गया है। १५वें और १६वें श्लोक में यह भाव व्यक्त किया गया है कि मुझको प्राप्त करके मनुष्य पुनर्जन्म से छूट जाता है। यह भाव वेदानुकूल नहीं है तथा भ्रमोत्पादक है क्योंकि जब शुभ कर्मों का फल समाप्त हो जाता है तो जीव को कर्म करने के लिये फिर संसार में आना पड़ता है। प्रत्येक कर्म की कोई सीमा है अतः उसके फल की भी सीमा है। ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसका अनन्त (कभी समाप्त न होने वाला) फल हो अतः इन श्लोकों को प्रक्षिप्त समझा गया। २१वें श्लोक में कहा गया है कि जहां पहुँच कर मनुष्य वापिस नहीं आता—वह मेरा अव्यक्त और अविनाशी परमधाम है। इस श्लोक के न रखने में भी वही हेतु है जो पन्द्रहवें और सोलहवें श्लोक के सम्बन्ध में प्रगट किया गया। २३वें श्लोक से लेकर २७वें श्लोक तक यह भाव व्यक्त किया गया है कि इस संसार में शुक्ल और कृष्ण (सफ़ेद और काला) दो प्रकार के मार्ग हैं, शुक्ल में मर कर गया हुआ योगी वापिस नहीं आता और कृष्ण में मरकर गया हुआ वापिस आता है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों को शुक्लमार्ग बताया गया है और धूम्र, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन के छः महीनों को कृष्णमार्ग कहा गया है। किसी विशेष समय में मरने का कोई विशेष फल होता है—यह बात बुद्धि विरुद्ध होने से माननीय नहीं है। यदि शुक्लमार्ग को ज्ञानमार्ग और कृष्णमार्ग को अज्ञानमार्ग समझा जावे तो यह प्रश्न उठता है कि जो अज्ञान में फंसा हुआ है क्या उस को योगी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले बताया गया कोई कर्म ऐसा नहीं है जिसका अनन्त फल हो अतः शुभ कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर जीव का पुनः संसार में लौटना निश्चित है इसलिये इन श्लोकों को प्रक्षिप्त समझा गया।

नवां अध्याय

इस अध्याय में से दस श्लोक (५, ११, १६, २०, २१, २३, २४, २६, ३२, ३३) निकाले गये हैं। चौथे श्लोक में यह वर्णन है कि सब भूतप्राणी मेरे अन्दर ठहरे हुये हैं, मैं उनमें ठहरा हुआ नहीं हूँ। पाँचवें श्लोक में इससे विरोधी भाव प्रगट किया गया है और कहा गया है कि सब प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी योगशक्ति के प्रभाव को देख, प्राणियों को उत्पन्न करने वाला मेरा आत्मा प्राणियों का पालन करने वाला होकर भी उनमें नहीं है।

इस श्लोक का जहां चौथे श्लोक से विरोध है वहां इसमें एक विचित्र बात यह बताई गई है कि परमात्मा का भी आत्मा होता है। ऐसी बात बुद्धिविरुद्ध तथा वेदविरुद्ध होने से माननीय नहीं है। छटे श्लोक में फिर यह कहा गया है कि सब जगह विचरने वाली महान वायु जिस प्रकार सदा आकाश में रहती है उसी प्रकार सारे प्राणी मुझ में स्थित हैं। यदि पांचवां श्लोक बीच में से निकाल दिया जावे तो चौथे और छटे श्लोक का सम्बन्ध ठीक ठीक मिलता है अतः प्रगट है कि पांचवाँ श्लोक प्रक्षिप्त है। ११वें श्लोक में यह भाव व्यक्त किया गया है कि मेरे परमभाव को न जानते हुये और यह न जानते हुये कि मैं प्राणियों का महान ईश्वर हूँ—मूर्ख लोग मुझ मनुष्यशरीर धारी परमात्मा का निरादर करते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है ईश्वर का अवतार वेद विरुद्ध है अतः यह श्लोक वेदविरुद्ध होने के कारण महर्षि वेदव्यास का लिखा हुआ नहीं हो सकता। १६वाँ श्लोक किसी नवीन वेदान्ती का प्रक्षिप्त किया हुआ मालूम होता है क्योंकि इसमें अद्वैतवाद का प्रतिपादन है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं गीताकार अद्वैतवाद का मानने वाला नहीं है बल्कि त्रैतवाद अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों का मानने वाला है (देखो

अध्याय १५, श्लोक १६ और १७)। चूंकि इस श्लोक का स्वयं गीता से विरोध है इसलिये यह प्रक्षिप्त है। २०वें और २१वें श्लोक में वेद की और वेद के मानने वालों की निन्दा है अतः यह महर्षि वेदव्यास-कृत नहीं हो सकते। २३वें श्लोक में यह वर्णन है कि जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त होकर दूसरे देवताओं का पूजन करते हैं वह भी मेरा ही पूजन करते हैं यद्यपि उनका यह पूजन विधिपूर्वक नहीं हैं। यह भाव जहां वेदविरुद्ध और बुद्धिविरुद्ध है वहां इसका स्वयं गीता से भी विरोध है क्योंकि इसी अध्याय का २५वां श्लोक है :—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

अर्थात् देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को, पितरों का पूजन करने वाले पितरों को, प्राणियों का पूजन करने वाले प्राणियों को तथा मेरा पूजन करने वाले मुझको ही प्राप्त होते हैं। जब यह बात है तो यह क्योंकर कहा जा सकता है कि जो लोग श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओं का पूजन करते हैं वह भी मेरा ही पूजन करते हैं। अतः प्रगट है कि २३वां श्लोक प्रक्षिप्त है। २४वां श्लोक भी २३वें से सम्बंधित है। इसमें कहा गया है कि मैं सब यज्ञों का भोक्ता तथा स्वामी हूँ परन्तु वह मुझे तत्व से नहीं जानते इसलिये गिर जाते हैं। अब यहां विचारणीय बात यह है कि जो राजसिक तथा तामसिक यज्ञ स्वार्थ के लिये अथवा दुनिया दिखावे के लिये अथवा दूसरे की हानि करने के उद्देश्य से किये जाते हैं (जिनका वर्णन गीता के १७वें अध्याय में आया है) उनके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि परमात्मा उन यज्ञों का भोक्ता और स्वामी है अतः यह कहना कि मैं सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ—युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, इसलिये यह श्लोक प्रक्षिप्त है। २६वें श्लोक में यह भाव वर्णित है कि जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प,

फल अथवा जल मेरी भेंट करता है, उसकी भक्तिपूर्वक अर्पण की हुई वस्तु का मैं उपभोग करता हूँ। मूर्तिपूजा के समर्थकों ने मूर्तिपूजन का प्रतिपादन करने के लिये यह श्लोक गीता में मिलाया है। जैसा कि हम भूमिका में बता चुके हैं मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है अतः यह श्लोक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। ३२वें तथा ३३वें श्लोक में स्त्री, वैश्य तथा शूद्र की गणना पाप योनियों में की गई है। यह विचारधारा वेदविरुद्ध तथा बुद्धिविरुद्ध होने से माननीय नहीं है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

दशवां अध्याय

इस अध्याय में से २८ श्लोक (४ से ७ तक, १२ से १७ तक और २१ से ३८ तक) निकाले गये हैं। चौथे और पाँचवें श्लोक में यह वर्णन है कि बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, निर्भयता, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियों के यह नाना प्रकार के भाव मेरे से ही उत्पन्न होते हैं। यह बात बुद्धि विरुद्ध होने से अमाननीय है और महर्षि वेदव्यास की लिखी हुई नहीं हो सकती। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न यह जीव के स्वाभाविक गुण हैं। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह जैसे कर्म करता है उनके अनुसार फल उसको मिलता है। यदि परमात्मा को इन सब भावों का उत्पन्न करने वाला मान लिया जावे तो जीव की कर्म करने की स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती। यदि परमात्मा ही इन भावों को उत्पन्न करने वाला है तो फिर इनके अच्छे बुरे परिणामों का भोगने वाला भी वही होना चाहिये इसलिये यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। छठे और सातवें श्लोक में यह भाव प्रदर्शित है कि सात महर्षि, चार उनसे पहले के और मनु—यह मेरी मानसिक कल्पना से उत्पन्न हुये हैं जिनकी संसार में यह सारी प्रजा

है, जो मेरी इस विभूति और योगशक्ति को तत्व से जानता है वह निस्सन्देह स्थिर योग को प्राप्त करता है। यह श्लोक भी बुद्धि विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं। मानसिक कल्पना से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुआ करती, उपादान कारण का होना आवश्यक है। स्वयं गीता से भी इन श्लोकों का विरोध है क्योंकि दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन से कहा है:—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"

(गीता अ० २, श्लोक १६)

अर्थात् अभाव से कभी भाव नहीं होता और भाव का कभी अभाव नहीं होता। इसलिये यह निश्चित है कि परमात्मा प्रकृति और जीव के संयोग से जगत को उत्पन्न करता है न कि मानसिक कल्पना से। अतः इन श्लोकों को प्रक्षिप्त समझना चाहिये। १२ से १७ तक श्लोक केवल श्रीकृष्ण महाराज को ईश्वर का अवतार सिद्ध करने के लिये रखे गये हैं। इसके अतिरिक्त इनका और कोई प्रयोजन नहीं है अतः यह प्रक्षिप्त हैं। २१ से लेकर ३८ तक जितने श्लोक हैं उनमें श्रीकृष्ण महाराज की विभूतियों का वर्णन है। इन श्लोकों में इस प्रकार की बातें आती हैं कि मैं आदित्यों में विष्णु हूँ, ज्योतिष्मान पदार्थों में सूर्य हूँ, नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ, वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ आदि आदि। यह सारी चीजें परमात्मा की उत्पन्न की हुई हैं न कि यह चीजें स्वयं परमात्मा हैं। सारे लोक लोकान्तर और सब पदार्थ परमात्मा ही के उत्पन्न किये हुए हैं और वह इन सब में व्यापक है अतः यह कहना कि "मैं इनमें यह हूँ और उनमें वह हूँ"—युक्ति संगत नहीं है। इन श्लोकों में कुछ इस प्रकार के भी श्लोक आते हैं जिनका आधार पौराणिक गाथायें हैं जैसे मैं घोड़ों में अमृतमंथन के

समय निकलने वाला उच्चश्रवा नाम का घोड़ा हूँ, हाथियों में ऐरावत हाथी हूँ, दैत्यों में प्रह्लाद हूँ आदि आदि। यह सारा वर्णन ही भ्रमोत्पादक है अतः यह सब श्लोक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

ग्यारहवां अध्याय

सबसे पहला और सबसे अन्तिम—इन दो श्लोकों को छोड़कर इस अध्याय के सारे श्लोक निकाल दिये गये हैं। इस अध्याय में श्रीकृष्ण महाराज के विराट स्वरूप दिखाने का वर्णन है। यह सारा वर्णन ही सृष्टिक्रम के विरुद्ध है। इस अध्याय में यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की जिससे वह उनके विराट स्वरूप को देख सका। अर्जुन के अतिरिक्त यह दिव्य दृष्टि और किसी को प्रदान नहीं की गई। जब यह बात थी तो प्रश्न उठता है कि संजय ने यह सारा हाल धृतराष्ट्र को क्योंकर सुनाया। ऐसा कोई वर्णन कहीं नहीं मिलता कि श्रीकृष्ण महाराज ने संजय को भी वह दिव्य दृष्टि प्रदान की जिससे वह उनके विराट स्वरूप को देखले। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में कई स्थानों पर पुनरुक्ति दोष पाया जाता है जो कि इस बात का प्रगट प्रमाण है कि यह अध्याय महर्षि वेदव्यास का लिखा हुआ नहीं है। यह अध्याय सारा का सारा ही प्रक्षिप्त है। हमने इसके दो श्लोक केवल इसलिये रख लिये हैं ताकि अध्यायों की संख्या कम न हो।

बारहवाँ अध्याय

इस अध्याय में से केवल चार श्लोक (१, ३, ४, ५) निकाले गये हैं। यह सारे ही श्लोक ग्यारहवें अध्याय से सम्बन्धित हैं। पहले श्लोक में अर्जुन प्रश्न करता है कि आपके साकार और निराकार

स्वरूप की उपासना करने वालों में से कौन श्रेष्ठ योग का जानने वाला है। तीसरे और चौथे श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज उत्तर देते हैं कि जो लोग इन्द्रियों के समूह को वश में करके, सर्वत्र समान बुद्धि रखते हुये और सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त रहते हुये अव्यक्त और अविनाशी परमात्मा की उपासना करते हैं—वह मुझको ही प्राप्त करते हैं। पांचवें श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि अव्यक्त की उपासना करने वालों को अधिक कष्ट उठाना पड़ता है क्योंकि देहधारियों को अव्यक्त की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है। यह सारे श्लोक मूर्तिपूजकों के मिलाये हुये हैं। इनके मिलाने का प्रयोजन केवल इतना है कि लोगों को यह बताया जावे कि साकार और निराकार—परमात्मा के दो स्वरूप हैं और साकार की उपासना निराकार की अपेक्षा सरल है। जैसा कि हम इस पुस्तक की भूमिका में प्रगट कर चुके हैं वेद कहता है कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" अर्थात् उस परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं है और यही भाव गीता में भी अन्यत्र प्रगट किया गया है:—

"सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्"

(गीता अ० १३, श्लोक १५)

अर्थात सूक्ष्म होने के कारण वह परमात्मा इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता, वह प्राणियों से दूर भी है और उनके समीप भी है।

स्वयं गीता के प्रमाण से सिद्ध है कि उस परमात्मा का ऐसा कोई आकार नहीं है जिसको इन्द्रियां देख सकें। जब उसका आकार ही नहीं है तो फिर साकार की उपासना कैसी अतः यह चारों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

तेरहवां अध्याय

इस अध्याय में से केवल ६ श्लोक (२, १८, २२, २३, २४, २५) निकाले गये हैं दूसरे श्लोक में कहा गया है कि सारे क्षेत्रों (शरीरों)

में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझी को जान। यह विचार धारा स्वयं गीता के प्रतिकूल है क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय के १६ वें और १७ वें श्लोक में साफ बताया हुआ है कि प्रकृति, जीव और परमात्मा अलग-अलग हैं। जो लोग जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं उन्हें विदित होना चाहिये कि जीव अल्पज्ञ है, परमात्मा सर्वज्ञ है, जीव एकदेशीय है परमात्मा सर्वव्यापक है, जीव अल्पशक्तिसम्पन्न है परमात्मा सर्वशक्तिमान है आदि आदि। यदि जीव को परमात्मा का अंश माना जावे तो परमात्मा के टुकड़े मानने पड़ेंगे इसके अतिरिक्त ऐसा मानने में और भी बहुत से दोष हैं जिनकी पूर्ण व्याख्या इस छोटे से लेख में सम्भव नहीं। यह विचारधारा जहां वेद और बुद्धि के विरुद्ध है वहां स्वयं गीता से भी इसका विरोध है अतः यह श्लोक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है।

१८ वें श्लोक में कहा गया है कि यह संक्षेप से क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के विषय में बता दिया, मेरा भक्त इसको जानकर मेरे भाव को प्राप्त करता है। इससे आगे के श्लोकों को देखने से पता चलता है कि क्षेत्र का वर्णन अभी समाप्त नहीं हुआ बल्कि जारी है अतः यह श्लोक अनावश्यक होने से प्रक्षिप्त है।

२२ वें श्लोक में कहा गया है कि देखने वाले, सम्मति देने वाले, भरण-पोषण करने वाले तथा सुख दुःख का भोग करने वाले को ही इस देह में परपुरुष, महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। इस श्लोक में जीवात्मा के लिये परपुरुष, महेश्वर और परमात्मा शब्दों का प्रयोग किया गया है जो भ्रम पैदा करने वाला है। यह श्लोक जान बूझकर इस अभिप्राय से यहां शामिल किया गया है ताकि लोग जीवात्मा को परमात्मा का अंश समझें। यह धारणा जहां वेद विरुद्ध है वहां इसका गीता से भी विरोध है क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय के १६ वें और १७ वें श्लोक में स्पष्ट बताया हुआ है कि प्रकृति, जीवात्मा और

परमात्मा अलग-अलग हैं अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है। २३ वें श्लोक में यह वर्णन है कि जो मनुष्य पुरुष और प्रकृति को उसके गुणों सहित जानता है वह सब कुछ करता हुआ भी पुनः जन्म नहीं लेता।

अव्वल तो यह श्लोक प्रसंग विरुद्ध है क्योंकि यहां प्रकृति और पुरुष का प्रकरण है न कि बन्धन और मोक्ष का, दूसरे यह कहना सर्वथा बुद्धि विरुद्ध है कि खाली प्रकृति और पुरुष को जान लेने से मुक्ति हो जाती है। वेदविहित शुभ कर्मों का आचरण ही मुक्ति को देने वाला है न कि प्रकृति और पुरुष को जानने मात्र से मुक्ति होती है। तीसरे यह कहना कि वह फिर जन्म नहीं लेता-भ्रम उत्पन्न करने वाला है क्योंकि शुभ कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर फिर जीव को कर्म करने के लिये संसार में आना पड़ता है अतः यह श्लोक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है।

२४वें और २५वें श्लोक में यह भाव वर्णित हैं कि कोई लोग ध्यान द्वारा अपने में आत्मा को देखते हैं, कोई सांख्ययोग के द्वारा और कोई कर्मयोग के द्वारा और जिनको स्वयं ज्ञान नहीं होता वह दूसरों से सुनकर उपासना में प्रवृत्त होते हैं और वह श्रुतिपरायण (सुनने म तत्पर) लोग भी मृत्यु को पार कर जाते हैं।

यह दोनों श्लोक स्पष्टरूप से प्रकरण विरुद्ध हैं अतः प्रक्षिप्त हैं।

चौदहवां अध्याय

इस अध्याय में से केवल चार श्लोक (२, १६, २६, २७) निकाले गये हैं। दूसरे श्लोक में कहा गया है कि जो लोग इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझ जैसे बन जाते हैं—वह सृष्टि के उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकाल में व्यथा को प्राप्त नहीं होते।

यह विचारधारा वेदविरुद्ध होने से अमाननीय है। जीव कभी परमात्मा नहीं बन सकता क्योंकि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न जो जीव के स्वाभाविक गुण हैं—वह उससे अलग नहीं किये जा सकते। परमात्मा सुख, दुःख और इच्छा द्वेष से रहित है। इसके अतिरिक्त परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। जीव कभी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक नहीं बन सकता। यदि जीव का परमात्मा में मिलना माना जावे तो परमात्मा में न्यूनाधिक्य (घटाबढ़ी, कमीवेशी) मानना पड़ेगा और ऐसा मानना बुद्धि के अनुकूल नहीं है—इसी कारण इस श्लोक को प्रक्षिप्त समझा गया।

१६ वें श्लोक में कहा गया है कि जब आत्मा गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं समझता और गुणों से परे मुझ परमात्मा को जान लेता है तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है अर्थात् मुझ में मिल जाता है। दूसरे श्लोक को निकालने का जो कारण बताया गया है—वह इस श्लोक पर भी लागू होता है इसके अतिरिक्त एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्मों का करने वाला जीवात्मा स्वयं है न कि गुण। इसमें सन्देह नहीं कि जीव जो कुछ करता है वह प्रकृति के गुणों के सँयोग से करता है लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि जीव पर कर्म करने की कोई जिम्मेवारी नहीं है। कर्म करने का उत्तर-दायित्व तो हर हालत में जीव पर ही रहेगा क्योंकि प्रकृति के गुण बिना जीव के स्वयं कुछ नहीं कर सकते। इस प्रकार की विचारधारा वेदविरुद्ध तथा बुद्धिविरुद्ध होने से माननीय नहीं है अतः इस श्लोक को प्रक्षिप्त समझा गया। २६ वां और २७ वां श्लोक अनावश्यक और प्रकरणविरुद्ध हैं इसलिये प्रक्षिप्त हैं।

पन्द्रहवां अध्याय

इस अध्याय में से केवल पांच श्लोक (६, ७, ८, १३, १४) निकाले गये हैं। छटे श्लोक में कहा गया है कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते और जहां जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता—वह मेरा परमधाम है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं है कि जिसका अनन्त (न समाप्त होने वाला) फल हो अतः जब शुभ कर्मों का फल समाप्त हो जाता है तो जीव को कर्म करने के लिये फिर संसार में आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस बात का भी कोई प्रमाण वेदों में नहीं मिलता कि ऐसे जीवों के रहने के लिये कोई विशेष स्थान परमात्मा ने नियत किया हुआ है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

सातवें और आठवें श्लोक में यह भाव प्रगट किया गया है कि जीव मेरा ही सनातन अंश है और जब एक शरीर से निकल कर यह दूसरे शरीर में जाता है तो पांचों ज्ञानेन्द्रियों को और मन को उसी प्रकार अपने साथ ले जाता है जैसे वायु अपने आशय से गन्ध को साथ उड़ाकर ले जाती है। यह विचारधारा कि जीव परमात्मा का ही अंश है जहाँ वेदविरुद्ध और बुद्धिविरुद्ध है वहां गीता से भी इसका विरोध है क्योंकि इसी अध्याय के सत्रहवें श्लोक में परमात्मा को जीव और प्रकृति से बिल्कुल भिन्न बताया हुआ है। इसके अतिरिक्त यह बात भी कि जीव मन और ज्ञानेन्द्रियों को अपने साथ ले जाता है बुद्धिविरुद्ध होने से माननीय नहीं है। मन और ज्ञानेन्द्रियां प्रकृति की बनी हुई हैं। जीवात्मा स्वभाव से निर्विकारी है अतः वह इनको अपने

साथ लेकर नहीं जा सकता। जब तक जीव का शरीर से सम्बन्ध है तभी तक मन और ज्ञानेन्द्रियों से भी सम्बन्ध है और जब शरीर से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है तो इनसे भी सम्बन्ध टूट जाता है अतः यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। १३ वें श्लोक में कहा गया है कि मैं रस से भरा हुआ चन्द्रमा बनकर समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूँ। यह वर्णन भ्रम पैदा करने वाला है। यदि यह कहा जाता कि मैं चन्द्रमा के द्वारा वनस्पतियों का पोषण करता हूँ तब तो यह बात मानने योग्य थी लेकिन यह कहना कि मैं ही चन्द्रमा बनकर वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ—बुद्धिविरुद्ध होने से माननीय नहीं है क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा—यह सब परमात्मा के बनाये हुये हैं, न कि यह स्वयं परमात्मा हैं। इस विषय में वेद का प्रमाण भी है:—

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"

अर्थात् जैसे सूर्य चन्द्र जगत्कर्ता ने पहली सृष्टि में उत्पन्न किये थे वैसे ही अब भी किये।

१४वें श्लोक में कहा गया है कि मैं अग्नि बनकर प्राणियों के शरीर में ठहरा हुआ प्राण और अपान वायु से मिलकर चारों प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ। यह बात भी भ्रमोत्पादक तथा बुद्धिविरुद्ध होने से माननीय नहीं है अतः इस श्लोक को भी प्रक्षिप्त समझा गया।

सोलहवां अध्याय

इस अध्याय में से कोई श्लोक नहीं निकाला गया।

सत्रहवां अध्याय

इस अध्याय में से केवल दो श्लोक (५, ६) निकाले गये हैं। इन श्लोकों में यह भाव वर्णित है कि जो लोग कामना और आसक्ति के

बल पर पाखंड और अहंकार से युक्त होकर शास्त्रविधि के विपरीत घोर तप करते हैं और जो शरीरस्थ पञ्च महाभूतों को और शरीर के अन्तर्गत रहने वाले मुझ परमात्मा को भी कर्षित (दुर्बल, पीड़ित) करते हैं–उनको आसुरी निश्चय वाला जान।

इन श्लोकों में जो यह बात कही गई है कि वह लोग शरीर के अन्तर्गत रहने वाले मुझ परमात्मा को भी कर्षित करते हैं—यह बात बुद्धि विरुद्ध होने से महर्षि वेदव्यास की लिखी हुई नहीं हो सकती अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

अठारहवां अध्याय

इस अध्याय में से १६ श्लोक (४६ से ५८ तक, ६४ से ७१ तक और ७७) निकाले गये हैं। ४६ से ५८ तक जितने श्लोक हैं–यह सब प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। ४८वें श्लोक की संगति ५६वें श्लोक से मिलती है। इसी प्रकार ६४वें श्लोक से लेकर ७१वें श्लोक तक जितने श्लोक हैं—उनका भी वहां कोई प्रसंग नहीं है, वह साफ किसी के मिलाये हुये मालूम होते हैं। ६३वें श्लोक का सम्बन्ध ७२वें श्लोक से ठीक-ठीक मिलता है अतः यह बीच के सब श्लोक प्रक्षिप्त हैं। ७७वां श्लोक गीता के ग्यारहवें अध्याय को महर्षि वेदव्यास कृत सिद्ध करने के लिये शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त इसका और कोई प्रयोजन नहीं है अतः यह निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है।

"गीता के कुछ श्लोकों का उर्दू कविता में अनुवाद"

[अनुवादकर्ता—कविराज रघुनन्दनसिंह "साहिर" देहलवी]

★

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

मारने और इसके मरने का जो रखते हैं यक़ीं[1] ।
दोनों ही नादान[2] हैं यह मारता मरता नहीं ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथैव शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जिस तरह कपड़े कोई बदले पुराने छोड़कर ।
रूह[3] का है यूं पुराने से नये तन[4] में गुज़र[5] ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

तेग़[6] से कटता नहीं यह आग से जलता नहीं ।
खुश्क[7] कर सकती नहीं बाद[8] आब[9] से गलता नहीं ॥

---

१. विश्वास २. नासमझ ३. आत्मा ४. शरीर ५. गमन ६. तलवार ७. शुष्क ८. वायु ९. जल ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

जो हुआ पैदा, मरा, जो मर गया, पैदा हुआ।
टल नहीं सकती जो बात उस बात का फिर फ़िक्र[1] क्या॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

तुझको क़ुदरत[2] फ़ेल[3] पर है बस नहीं अंजाम[4] पर।
आरज़ू[5] फल की न कर और तर्के-कोशिश[6] भी न कर॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

आग में जलकर हो जैसे ख़ाक[7] लकड़ी एकदम।
आतिशे-इरफ़ां[8] में जल जाते हैं यूं सारे करम[9]॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

हर जगह हर शै[10] में जिस योगी की यकसां[11] है नज़र[12]।
सबको ख़ुद में[13] ख़ुद को[14] सबमें देखता है जल्वागर[15]॥

---

१. चिन्ता २. अधिकार ३. कर्म ४. परिणाम ५. इच्छा ६. कर्म का त्याग ७. भस्म ८. ज्ञानाग्नि ९. कर्म १०. वस्तु ११. समान १२. दृष्टि १३. अपने में १४. अपने को १५. विराजमान।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

बेशक[१] अर्जुन शोख़[२] मन का बस में आना है मुहाल[३] ।
मश्क़[४] और वैराग से होता है हासिल[५] यह कमाल[६] ॥

"नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः ।"

नेस्ती[७] से हो नहीं सकती किसी शै[८] की नमूद[९] ।
ख़ात्मा[१०] उसका नहीं है जो है क़ायम-उल-वजूद[११] ॥

अनुवादक महोदय सारी गीता का उर्दू कविता में अनुवाद कर रहे हैं। जो सज्जन निष्काम भाव से अपने ख़र्च पर उसको उर्दू या हिन्दी किसी भाषा में छपवाना चाहें, वह हमसे पत्र-व्यवहार करें।

—प्रकाशक

---

१. निस्सन्देह २. चंचल ३. कठिन ४. अभ्यास ५. प्राप्त ६. सिद्धि ७. अभाव ८. वस्तु ९. प्रगटीकरण १०. समाप्ति ११. अपने अस्तित्व में स्थित।